साहित्य और साहित्यकार का दायित्व

विजय देव नारायण साही

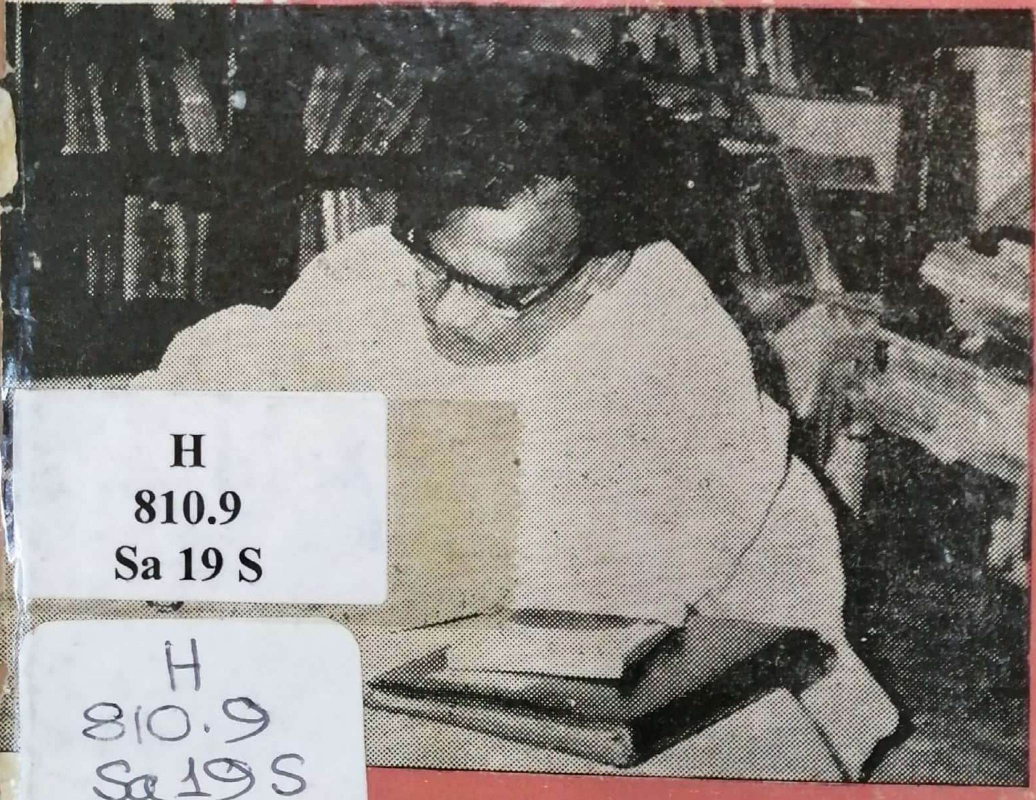

H
810.9
Sa 19 S

H
810.9
Sa 19 S

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

Scanned with CamScanner

राजर्षि टण्डन जन्मशती व्याख्यानमाला

साहित्य
और
साहित्यकार का दायित्व

विजयदेव नारायण साही

शक १९०५ : सन् १९८३ ई०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

Library IIAS, Shimla
H 810.9 Sa 19 S
00097729

97729
10/7/2000

H
810.9
Sa 19 S

प्रकाशक
प्रभात मिश्र शास्त्री
प्रधानमंत्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१२ सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

⊙

प्रथम संस्करण : सन् १९८३ ई०
मूल्य : बीस रुपये
प्रतियाँ : ११००

⊙

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
१३ सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

Scanned with CamScanner

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा गठित राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जन्मशती उपसमिति के निश्चयानुसार राजर्षि टण्डन की शती के उपलक्ष्य में एक व्याख्यानमाला का आयोजन करने का निर्णय किया गया था। इस व्याख्यानमाला के अन्तर्गत राजर्षि के जीवन-दर्शन के अतिरिक्त साहित्य, कला, संस्कृति के विविध पक्षों पर विशेषज्ञों एवं विद्वानों के व्याख्यान आयोजित करने का निश्चय किया गया है। इस निश्चय के अनुसार 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' विषयक प्रथम व्याख्यान के लिए हिन्दी के मूर्द्धन्य आलोचक, लेखक और अग्रणी कवि श्री विजयदेव नारायण साही से अनुरोध किया गया था। साही जी ने सम्मेलन के अनुरोध को स्वीकार करके २५ सितम्बर, १९८२ को उक्त विषय पर अपना सारगर्भित व्याख्यान देने की कृपा की थी। उनके इस व्याख्यान पर हिन्दी के वरिष्ठ लेखकों ने भी अपने-अपने उद्गार व्यक्त किये थे। इस प्रथम व्याख्यान की परिचर्चा में डॉ० रघुवंश, डॉ० जगदीश गुप्त, श्री भैरवप्रसाद गुप्त, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, श्री गिरिराज किशोर, दिनमान के सम्पादक श्री कन्हैयालाल नन्दन, श्री रवीन्द्र कालिया, श्री शैलेश मटियानी, डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, डॉ० रामकमल राय आदि विद्वानों ने भाग लिया था।

दैवात् श्री साही जी के दिनांक ५ नवम्बर, १९८२ के आकस्मिक निधन से हिन्दी-जगत् मर्माहत हो गया। साही जी अंग्रेजी के प्राध्यापक होते हुए भी जीवनपर्यन्त हिन्दी के काव्य और आलोचना के सृजनात्मक लेखन में लगे रहे। वे मौलिक चिन्तक, श्रेष्ठ विचारक और प्रखर वाग्मी थे। विश्व की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों से लेकर हिन्दी-साहित्य तक का उन्होंने विशिष्ट अध्ययन किया था। उनका अध्ययन विविध साहित्यिक आयामों को उद्घाटित करता चलता था।

साहित्य और राजनीति दोनों ही क्षेत्रों में ही साही जी सक्रिय थे। अन्ततः साहित्य के क्षेत्र में उन्हें विशेष सम्मान मिला था। वे गम्भीर अध्येता और विचारक के रूप में ख्याति के शिखर पर प्रतिष्ठित थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' शीर्षक उनके व्याख्यान को पुस्तकाकार प्रकाशित करके विद्वानों एवं अध्येताओं के उपयोगार्थ प्रस्तुत कर रहा है।

साही के अभिन्न मित्र श्री केशवचन्द्र वर्मा का 'चकाचौंध से परे एक रोशनी' लेख प्रस्तावना के रूप में हम पुस्तक के आरम्भ में दे रहे हैं। यह लेख उनके सर्जक व्यक्तित्व को केवल उद्घाटित ही नहीं करता है, अपितु समग्र परिवेश पर रोशनी भी डालता है। सम्मेलन उनके इस सहयोग के लिए आभारी है।

स्वर्गीय श्री विजयदेव नारायण साही के इस मौलिक चिन्तन-प्रधान व्याख्यान से साहित्य के अध्येताओं को वैचारिक ऊष्मा प्राप्त होगी। उनके इस भाषण से राजर्षि टण्डन शती व्याख्यानमाला को भी सहज ही गरिमा प्राप्त हुई है।

—प्रेमनारायण शुक्ल
साहित्य मंत्री

क्रम

⊙⊙

चकाचौंध से परे एक रोशनी ॥ ९

साहित्य और साहित्यकार का दायित्व ॥ २९

उपसंहार ॥ ५८

Scanned with CamScanner

चकाचौंध से परे एक रोशनी

⊙⊙

विजयदेव नारायण साही (५८) का संक्षिप्त जीवन अपने परिवेश को एक बार फिर इस अनुभव का अवसर देता है कि अनासक्ति का तेवर कितना पैना, सधा हुआ—गहरी पर्तों को भेद कर अपनी छाप लगाता हुआ लम्बे समय तक अपनी मूल्यवत्ता सिद्ध करता रहता है। साही ने अनेकानेक माध्यमों से अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की, लेकिन उसमें निरंतर वैरागी का वह स्वर बोलता रहा जो माध्यमों को सार्थक करता अपने युग की दृष्टि और समझ को अखण्ड काल-प्रवाह से जोड़ता रहता है। माध्यम के जरिये अपने यश का प्रभामण्डल बनाने की कोशिश साही की प्रकृति में नहीं थी—न तो राजनीति में, न साहित्य में, न शिक्षा-अध्यापन के क्षेत्र में और न सार्वजनिक जीवन में। अपना सब-कुछ दाँव पर लगाकर वह व्यक्ति जूझता था। उसने अपने लिये कभी कोई चोर दरवाजा खोलकर नहीं रखा। साही के प्रति उसके मित्रों का ही नहीं—उसके घोर विपक्षियों के आकर्षण का यही मूल था। सबको इस बात का आभास आगे-पीछे हो ही जाता था कि वह जो कुछ कह रहा है—वह हमारी प्रज्ञा के रास्ते खोलने के लिए कह रहा है—वह सिद्धान्त नहीं बूक रहा है। किसी देश के साहित्यिक इतिहास में ऐसी विलक्षण प्रतिभा और समझ वाले व्यक्ति बिरले होते हैं।

Scanned with CamScanner

साही (जिसे हम घरेलू नाम 'विजयी' से ही संबोधित करते थे) को इस ढाँचे में ढालने और खराद पर बार-बार चढ़ाने का काम कुछ विशिष्ट व्यक्तियों और स्थितियों ने किया। विद्यार्थी-काल में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रख्यात प्रोफेसर स्व० सतीशचन्द्रदेव ने साहित्य की समझ की आधारभूत दृष्टि दी। समाजवादी आन्दोलन ने उन्हें गहराई से पकड़ा था और आचार्य नरेन्द्रदेव की मेधा, कुशाग्रता और राष्ट्रीय दृष्टि की ऐसी छाप साही पर पड़ी कि वह अपने कुटुम्ब की सिविल सर्विस की परम्परा त्याग कर राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन में कूद पड़े। बनारस के कालीन बुनकरों का शोषण अपने शीर्ष पर था। विजयी साइकिल पर गाँव-गाँव घूमकर उन मजदूरों का दुष्कर और प्रायः असंभावित संगठन करने लगे। उनकी एक आवाज बनी और फिर सुनी भी गयी। काशी विद्यापीठ में आचार्य नरेन्द्रदेव की आज्ञा से विजयी ने अध्यापन शुरू कर दिया। आन्दोलन में शामिल होते, मार खाते, जेल जाते उनका मार्क्सवाद का अध्ययन-मनन गहरा होता चला गया। साही की मार्क्सवाद की समझ उधार की नहीं थी। उन्होंने उसे भारतीय समाज पर लागू करके उसके नतीजे निकाले। राममनोहर लोहिया की भारतीय मानस की समझ, जूझने का अदम्य अकेला साहस, कर्मठता और संकल्प साही के लिए निरन्तर लोहिया के प्रति एकात्मनिष्ठा और आकर्षण पैदा करती रही। लोहिया के वे सारे गुण विजयी के भीतर नयी दीप्ति से प्रतिभासित हुए। वे अपनी मार्क्सवादी समझ को यदि प्रगतिशील लेखन की कम्युनिस्ट परिणति पर लागू करते थे तो उसी से वे भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी पार्टियों की भी बड़ी सटीक और बेलाग व्याख्या करते थे। कम्युनिस्ट राजनीति और तज्जनित लेखन की विसंगतियों को साही अपनी मौलिक मार्क्सवादी समझ के तर्क पर कसते रहते थे। समाजवादी शिखर नेतृत्व में विजयी की साख

Scanned with CamScanner

उत्तरोत्तर बढ़ती रही। काशी विद्यापीठ से वे इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के अंग्रेजी विभाग में आ गये। आचार्य जी से आज्ञा लेकर आये और इलाहाबाद के पुराने परिचित वातावरण में घुल गये। इलाहाबाद में रहना-पढ़ना-पढ़ाना, परिमल के साहित्यिक परिवेश में जीना और अपने में निरंतर नया जोड़ते रहना साही के साहित्यिक अनुभव की समृद्धि का अजस्र स्रोत बना रहा।

यह १९४४-४८ का समय था। 'परिमल' का शैशव-काल था। 'परिमल' गोष्ठी में यूनिवर्सिटी के अनेक रचना-धर्मी छात्र थे। कुछ अध्यापक भी शामिल होते थे। छात्रों में विजयी के अतिरिक्त जगदीश गुप्त, सर्वेश्वर, गिरधर गोपाल, गोपेश, धर्मवीर भारती, क्षेम, महेन्द्र, रघुवंश और मैं—सभी थे। अध्यापक डॉ० रामकुमार वर्मा, रसाल जी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, बच्चन जी सभी प्रायः आते रहते। कुछ अंतराल में पं० इलाचन्द्र जोशी, गंगाप्रसाद पाण्डेय, रमानाथ अवस्थी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, ओंकार शरद—ये सब और दूसरे भी कई लोग 'परिमल' के वृत्त में सिमट आये। कालान्तर में 'परिमल' के वही सदस्य विभिन्न आजीविकाओं के सहारे यहीं इलाहाबाद में बस गये। 'परिमल' में फिर पं० सुमित्रानन्दन पंत, निराला और महादेवी जी का सान्निध्य प्राप्त हुआ। इस सबके फलस्वरूप साहित्य के रचना-धर्मी आन्दोलनों का नया दौर 'परिमल' की धुरी पर लगभग बीस बरस चला। हिन्दी कथा-साहित्य पर, हिन्दी काव्य-धाराओं पर, संत-साहित्य पर, 'आधुनिकता' के नव आन्दोलन पर, प्रगतिवादी मूल्यों पर, लेखक और राजाश्रय के विषय पर, नाटक और रंगमंच पर 'परिमल' में जैसी गम्भीर गोष्ठियों और विचार-विमर्श का क्रम चला, उसका अच्छा ब्यौरा 'परिमल' की रजत जयन्ती के अवसर पर डॉ० जगदीश गुप्त ने उसकी विवरण पत्रिका में प्रकाशित किया है। साहित्य

की सामर्थ्य देती है। इतने दिनों में साही की चिन्तन-प्रक्रिया के तीन महत्त्वपूर्ण पड़ावों का मैं साक्षी रहा हूँ।

समाजवादी विजयदेव नारायण साही के चिन्तन-प्रवाह का पहला पड़ाव वह था जब उन्हें मार्क्सवादी आलोचना-दृष्टि के नितान्त निकम्मेपन का बोध हुआ। इस जगह पहुँचने के लिए साही को मामूली पराक्रम नहीं करना पड़ा। उन्हें प्रतिष्ठित और विकासमान कम्युनिस्ट-देशों के साहित्य और उसकी आलोचना-पद्धति का सूक्ष्मतम अध्ययन करना पड़ा। एंगेल्स और मार्क्स तो केन्द्र में थे ही—साही ने प्लेखानोव, कमिसार जोजेफ रवाई, ट्राट्स्की, ज्दानोव, माइखेल लीफशित्स आदि के साथ सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के कला एवं नाटक संबंधी प्रस्तावों का भी बड़ी मेहनत से अध्ययन किया और उसके व्यापक नतीजे भारतीय साहित्य—विशेषतः हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में निकाले। इसलिए वे अपनी बात पूरी प्रामाणिकता और मुहरबन्दी के साथ कहते हैं।

"प्रवृत्तिवाद का विरोध न करना एक बात है और प्रवृत्तिवाद को ही साहित्यिक आलोचना का आधार या निर्णयात्मक मानदण्ड मानना बिल्कुल दूसरी बात है। यह प्रवृत्तिवाद—प्रगतिवाद का नकाब लगाये या 'सामाजिक यथार्थ' का जामा पहने—जब भी साहित्य के अपने नियमों के विरुद्ध सीधी प्रतिच्छाया का आग्रह करेगा, साहित्य की शक्ति और श्रेष्ठता को आघात ही पहुँचायेगा।" (मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति—आलोचना; अक्टूबर, १९५३) एक ओर धीरे-धीरे साहित्य को प्रतिबिम्ब, फिर वर्ग का प्रतिबिम्ब, फिर मजदूर वर्ग का प्रतिबिम्ब बनाया गया; दूसरी ओर जनता को समेट कर मजदूर वर्ग, फिर मजदूर वर्ग को कम्युनिस्ट पार्टी और फिर कम्युनिस्ट पार्टी को भी पार्टी नेतृत्व में केन्द्रित कर दिया गया। इस अप्रत्यक्ष परन्तु निश्चित परिणति को इसलिए गति और भी मिली कि

Scanned with CamScanner

इससे आलोचना का कार्य अत्यधिक सरल और लचीला हो गया, जो एक 'हथियार' के लिए आवश्यक है। संभवतः इसी कारण समकालीन कम्युनिस्ट आलोचकगण प्रगतिशील साहित्य के सार्थक अन्वेषण के लिए साहित्य के विशाल इतिहास में डुबकी लगाने की आवश्यकता नहीं समझते। एक थका देने वाली एकरसता के साथ कम्युनिस्ट आलोचक लेखक के सम्मुख केवल इतना प्रश्न रखना ही पर्याप्त समझते हैं: "कला, कला के लिए अथवा समाज के लिए?" यह विरोधाभास कितना भ्रामक है, इसका संकेत हम पहले कर चुके हैं। लेखक स्पष्टतः यह मानता है कि कला समाज के लिए है। इसके पश्चात् आलोचना का पूरा कर्तव्य इतना ही सिद्ध करना रह जाता है कि समाज का हित कम्युनिस्ट पार्टी की विजय, उसके राज्य की स्थापना और उसके आदर्शों का पालन करने में है। साहित्यालोचना से अधिक इन तर्कों का क्षेत्र राजनीति और राजनीति से अधिक अन्ध-श्रद्धा और अन्ध-विश्वास के बीच है। (उपर्युक्त लेख का दूसरा अंश)

"समकालीन कम्युनिस्ट आलोचना की एक पकड़ इस बात में है कि वह साहस के साथ मानवता के महान् अतीत साहित्य की ओर नहीं ताक सकती। छोटे-छोटे लेख उसका अंत है। एक भी कम्युनिस्ट आलोचक ऐसा नहीं है, जो साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास लिखने का साहस कर सके और अंत में कॉडवेल और लूकाच की भाँति असंगतियों का भाण्डार, विरोधाभासों का कोष अथवा कुत्सित समाजशास्त्री बन कर न निकले।" (उपर्युक्त लेख का तीसरा अंश) साही ने अपनी इस अवधारणा को यूँ ही नहीं छोड़ दिया। उन्होंने लगातार कई लेख इस सम्बन्ध में लिखे, जो अब उनकी पुस्तक में प्रकाशित होंगे। "आखिर 'जनहित' है क्या चीज, जिसके लिए इतना शोर उठाया गया है। राज्य का 'जनहित' और साहित्य का 'जनहित' परस्पर विरोधी भी हों तो भी दोनों के क्षेत्र, प्रेरणा-स्रोत, आग्रह एवं कार्य-विधि में

इतना अन्तर है कि आज तक विश्व में जहाँ कहीं भी सीमाओं का अतिक्रमण हुआ है; वहाँ अनिष्ट ही अधिक हुआ है।"

—जनवादी साहित्य १, आलोचना, जनवरी, १९५५

कलाकार की वैयक्तिक सत्ता, उसकी कृति के संबंध किस प्रकार अक्षुण्ण हैं, इसके बारे में भी साही ने बड़ी साफ बात कही है : "अन्य वस्तुओं का उत्पादन सामूहिक श्रम द्वारा होता है और उनका उपभोग व्यक्तिगत। इसके ठीक विपरीत कलाकृति का उत्पादन एक व्यक्ति करता है और समूह उसका उपभोग करता है। अतः कलाकार की वैयक्तिक सत्ता अपनी कृति के संबंध में अक्षुण्ण है, अप्रतिहत है। उसकी अभिव्यक्ति और उसका विकास किसी प्रकार प्रगति का बाधक नहीं बन सकता।"

—जनवादी साहित्य २, आलोचना, अप्रैल, १९५५

साही की मान्यता थी कि समाज के अंग के रूप में शोषण, उत्पीड़न आदि की विकृतियाँ कलाकार के व्यक्तित्व को खण्डित करती हैं। उसका कलात्मक प्रयास इन तमाम विच्छिन्नताओं से ऊपर उठने का चमत्कारपूर्ण प्रयास ही होता है। जितनी बड़ी प्रतिभा उसके पास होती है, उतना ही वह उसके ऊपर उठ कर हमें पूर्णता की दृष्टि प्रदान करता है। "कलाकार का व्यक्तित्व इसके अलावा और भी गहराई से तब खण्डित होता है, जब उसके अंतस् से अननुभूत कोई बाह्याचार, शैली, विचारधारा, जीवन-दृष्टि अथवा प्रचारात्मक पक्षधरता उसके ऊपर लाद दी जाती है, जब वह उन्मुक्त होकर यह नहीं कह सकता कि इस कृति का सृजन मैंने—केवल मैंने किया है—इस पर आदि से अंत तक केवल मेरी छाप है।" (उपर्युक्त लेख का अंश)

मार्क्सवादी चिन्तन और आलोचना की यह चुनौती साही के सामने खड़ी थी। साही चुनौतियों में ही जीते थे। चुनौती होने पर ही उनकी मेधा जाग्रत होती थी। कलाकार के व्यक्तित्व की अप्रतिहत

Scanned with CamScanner

गति स्वीकार करते हुए समाज और साहित्य की समग्रता का कैसे साक्षात्कार किया जाय यही उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी। साही के चिन्तन का अगला पड़ाव था—उसी समग्रता की अनुभूति में सब-कुछ समो लेना। यह काम उन्होंने अपने ऐतिहासिक लेख 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' (नयी कविता : अंक ५-६, १९६०-६१) से प्रारम्भ किया जिसमें छायावाद से अज्ञेय तक के रचना-काल का जायजा लिया गया है। यह काल हमारे देश की राजनीति के सन्दर्भ में, देश के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के सन्दर्भ में, बदलते हुए सामाजिक मूल्यों के सन्दर्भ में अतीत और वर्तमान के सेतुपरक प्रयत्नों के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काल है। इसी काल में एक 'चिरपरिचित मनुष्य' के विघटित होने और एक 'नये मनुष्य के जन्म' लेने का तीखा एहसास हमें होने लगा। देश के सांस्कृतिक जागरण के अन्तरतम से जिस आंतरिक लय को सृजनशीलता पकड़ लेती है, वह इस काल में बड़े स्पष्ट ढंग से साही ने पकड़ा। साही ने अपने इस महत्त्वपूर्ण लेख में एक सुचिन्तित विचारधारा सामने रखी है। इसके कुछ उद्धरण देने से अनावश्यक टिप्पणी की जरूरत नहीं पड़ेगी :

"तीसरे दशक की कविता का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान यही है कि उसने देखा कि सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ सिर्फ प्रतीकों और आदर्शों के सहारे नहीं चलतीं। उनको चलाने वाली वस्तु उनसे भी गहरी है, जो उनका भी निर्माण करती है—वह है हमारे देश की आंतरिक लय। आज की नयी कविता की मनोभूमि उसी लय को बारम्बार सृजनशील अर्थ देने की कोशिश करती है।"

"गांधी जी हिन्दुस्तान के लिए गांधी इसलिए नहीं थे कि वे हमारे विचारों या आदर्शों के प्रवक्ता थे। उनका जोड़ देश के साथ कहीं और भी गहरा था ! वे हिन्दुस्तान की जिन्दगी की अभिव्यक्ति थे—

इतनी पूर्णता के साथ, जो उस युग में किसी और को प्राप्त नहीं थी और आगे भी किसी को हो सकेगी—कहना कठिन है।"

"सत्याग्रह युग के साहित्य के दो विशाल आच्छादन हैं—गांधी जी और रवीन्द्रनाथ। ये दोनों उस मनोभूमि के निर्माता हैं या खुद भी औरों की तरह अभिव्यक्ति मात्र, यह बहुत-कुछ जिस दृष्टि से हम उस युग के परस्पर संबंधों का अध्ययन करना चाहें, उस पर निर्भर करता है। गांधी जी ने सत्य और स्वाधीनता की कुछ परिभाषाएँ दीं और उन तक पहुँचने का रास्ता बताया।"

"सत्य को अंतर्ध्वनित होते हुए पकड़ना—यह शैली भी गांधी जी की विशेषतः विख्यात है। सत्य को उसके मूल चारुत्व में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति से ग्रहण कर लेना लगभग वैसी ही शैली है। अधिक विशिष्ट बात यह है कि अंतर्ध्वनित यह सत्य जो बारम्बार देश-काल के बाहर से आता हुआ अनुभूत होता है, उसी अनुपात में इतिहास का सत्य भी बन जाता है। यह चरम विश्वास कि दोनों में व्यवधान होगा ही नहीं—सत्याग्रह युग में मानवीय आस्था की रीढ़ है। बेशक इस अखण्ड असंदिग्ध आस्था पर हताश शंका प्रकट की बच्चन आदि ने और मुँह चिढ़ाया प्रगतिवाद ने। उसके बाद तो इन्द्रजाल टूटता गया। आज के साहित्य की मनोभूमि की अनुभूति यही है कि अंतःसत्य और बहिर्सत्य के बीच एक विशाल खाईं है जो पाटे नहीं पटती।"

"असली मनुष्य तो भीतर धड़कते हुए दिल में है, जिसे बुद्धि अथवा ज्ञान या मर्यादाएँ अभिव्यक्ति नहीं दे पातीं। यही असली मनुष्य हम सबके भीतर है और यही सहज-मानव है। यही जब बन्धन तोड़ कर आशा और निराशा के हिलकोरे खाता हुआ निकलता है तो तीसरे दशक की कविता जन्म लेती है।"

"पुरानी चेतना 'फंक्शन' और उद्देश्य के इस पीड़ादायक अंतर

से ग्रस्त नहीं थी, इसका एक उदाहरण है हमारा शब्द 'धर्म'। धर्म शब्द 'फंक्शन' और उद्देश्य—दोनों ही अर्थों में व्यवहृत होता है। जब हम कहते हैं फूल का धर्म है खिलना तो हमारा मतलब उस 'फंक्शन' से है जो फूल की अपराजेय विवशता है। यह एक फंक्शनल सत्य—'तथ्य' है। जब हम कहते हैं कि मनुष्य का धर्म है सच बोलना तो यह कोई अपराजेय विवशता नहीं है। हम चाहें तो झूठ भी बोल सकते हैं, लेकिन हमें सत्य बोलना चाहिए। यह एक उद्देश्यगत या नैतिक सत्य-'सत्य' है।"

"यहाँ से लेकर अखिल ब्रह्माण्ड के फैलने-सिकुड़ने तक तथ्यों की अनिवार्यता तो दिखती है, लेकिन उसकी रेखा 'सत्य' को कहीं छूती नहीं दिखती—सिवाय मनुष्य के। लेकिन मनुष्य को भी यदि हम केवल फंक्शन की पुनरावृत्ति के ही रूप में देखते हैं, चाहे वह कितनी ही वेगवान् और राशिभूत पुनरावृत्ति क्यों न हो, तो फिर वह 'वर्जित स्पर्श' कैसे घटित होगा? यह रिक्तता कैसे भरेगी?"

"यह प्रश्न आज केवल हिन्दी-लेखक के सम्मुख नहीं है, सारी मनुष्यता के सम्मुख है। इसकी चेतना तीखी है। इस तीखी चेतना के कारण एक विश्व-मानस का निर्माण सम्भव है। यही हिन्दी की नयी कविता और दुनिया के अन्य देशों में साम्य भी पैदा करती है। किन्तु उस 'वर्जित स्पर्श' की झलक हिन्दी कविता और अमेरिकन या यूरोपीय कविता में भिन्न है।"

असली मनुष्य में अखण्ड आस्था रखते हुए सत्य के अन्वेषक साही की नयी कविता के द्वारा समग्रता की तलाश जारी रहती है। मनुष्य के 'अनन्त' में सम्भावना का जो विस्तार दीखता है, वह साही की अगली यात्रा का संकेत देता रहता है।

"मनुष्य में अखण्ड आस्था और उसको 'सबार ऊपर सत्य' अनुभव

Scanned with CamScanner

करने का एक अवश्यम्भावी नतीजा यह है कि मनुष्य को हम सत्य और सृष्टि, दोनों ही रूपों में देख सकते हैं। देशकाल-विपन्न प्रतिक्षण सर्जित-विसर्जित मानववादी भी मनुष्य के उस 'अनन्त' को, जो सम्भावना का विस्तार है, कम-से-कम भविष्य में फैला हुआ देखता है।"

——नयी कविता, अंक ५-६

इस चिन्तन-क्रम से साही ने जायसी के प्रति अपने को आकर्षित पाया। धर्म-निरपेक्षता के अध्ययन के सिलसिले में भी——काव्य की विशुद्ध अनुभूति के सिलसिले में भी——साही ने जायसी को अपने विचार-केन्द्र में रखा था और शिमला के 'एडवान्स स्टडीज' संस्थान में इस पर एक परचा भी लिखा था। देहान्त के तीन-चार वर्ष पहले से वे जायसी में ही डूबे रहे, कहते:——"जायसी का अध्ययन मेरे लेखक होने और इस देश का नागरिक होने की समान रूप से निष्पत्ति है। जायसी ने मेरे सामने बहुत-सी बातें ऐसी रखीं, जो मेरे मानस का सवाल नहीं हैं——पूरे भारतीय मानस की दृष्टि में बहुत महत्त्वपूर्ण था।" (भेंटवार्ता आकाशवाणी, इलाहाबाद) साही कविता को कटघरों से मुक्त करने का अनथक प्रयत्न करते रहे। वे अक्सर जोर देकर कहते कि किसी युग की कविता अपने पहले की तमाम कविता के साथ ही मिल कर खड़ी हो सकती है——उनसे अलग या उनके विरुद्ध होकर नहीं खड़ी हो सकती।

साहित्य किस प्रकार मानव-मूल्यों और रागात्मक अनुभूतियों को जोड़ने का काम करता है——कैसे रागात्मक स्तर पर एकता स्थापित करने का काम करता है और मूल्यों के स्तर पर व्यक्तिवादिता से लेकर अचिन्त्य ब्रह्माण्ड की एकात्मकता के प्रति जागरूक होता है——यह साही के जीवन-चिन्तन का अन्तिम पड़ाव था, जो उन्होंने प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा आयोजित "साहित्य और साहित्यकार का दायित्व" शीर्षक गोष्ठी-माला में अपना अत्यन्त प्रभावशाली भाषण

Scanned with CamScanner

देते हुए स्थापित किया। साही ने रचनाधर्मिता के जिन चार स्तरों की चर्चा की, उसका सार-संक्षेप इस चिन्तन-क्रम की पूर्णता को इंगित करता है।

"पहली बात तो यह है कि साहित्य का दायित्व जोड़ने का है और बड़े-से-बड़े संकट के क्षणों में भी मानव-मूल्यों और रागात्मक अनुभूतियों को संगृहीत करके सुरक्षित रखने का है। यह काम शेक्सपीयर, तॉलस्तॉय, वाल्मीकि, तुलसीदास आदि सभी रचनाकारों ने अपने स्तर पर किया है। यदि वे यह न करते तो मानव-निष्ठा के वे आयाम, जो हमें दिखलायी पड़ते हैं, आज सुरक्षित न रह पाते।"

"साहित्य का दूसरा दायित्व रागात्मक स्तर पर मानव-अनुभूतियों की विविधपरता के अनेकानेक रूपों के प्रति आस्था विकसित करना है। यह आस्था ही वास्तव में एकीकरण का काम करती है। साहित्य का तीसरा दायित्व मानव-जीवन के प्रति भावात्मक संवेदना को निरंतर निःसृत करना है, ताकि रागात्मक और जोड़ने की प्रक्रिया अमानवीय होने से बचती रहे। चौथी बात नितान्त स्थानीय मानव और विश्व-मानव के तनाव संघर्ष के विलयन की है, जिसमें आकांक्षा और यथार्थ के विभिन्न पक्षों को सृजन का प्रेरणास्रोत माना जा सकता है।"

"साहित्यकार न तो केवल स्थानीय (पारिवारिक) स्तर पर लिख कर जी सकता है और न ही मात्र समाज की दुहाई देकर मूल्यवान् बन सकता है। इसी प्रकार वह मानव मात्र का पक्ष लेकर भी सत्य की पूर्णता को व्यंजित नहीं कर सकता, जब तक कि उसके भीतर यह बोध न हो कि वह इन सबके साथ एक अचिन्त्य अखण्ड ब्रह्माण्ड का भी एक सदस्य है। चेतना के जिन चार स्तरों की बात साहित्यकार के लिए अनिवार्य है——वह सार्वभौमिक और नितान्त स्थानीय होते हुए एक साथ व्यक्त होती है। जो इन चेतना स्तरों को टुकड़े-टुकड़े करके देखता है, वह केवल अर्द्धसत्य का ही साक्षी होता है। सत्य के समग्र रूप

97729

को हृदयंगम करके लिखने और समझने के लिए यह आवश्यक है कि साहित्यकार के मानस में ये चारों स्तर समय-समय पर एक साथ झंकृत होते रहें।" —राष्ट्रभाषा सन्देश: ३१ अक्टूबर, १९८२

साही की कविता को समझने के लिए उनके चिन्तन की उस रचनात्मकता को पकड़ना चाहिए, जो उनके भीतर उस तात्त्विक विवेचन से एक रागात्मक एकात्मता ग्रहण करती है। उनका चिन्तन उनकी रचना-प्रक्रिया से निरपेक्ष नहीं था—अक्सर वह उनकी कविता की शक्ल ग्रहण कर लेता था। इसी अंतःसलिला वेग को पकड़ने की स्थिति को "आंतरिक एकालाप" की संज्ञा दी गयी है। साही का दर्शन था—"पिछली पंक्ति के पहरुओं का दर्शन (द फिलॉसफी ऑफ द बैक बेन्च) इस दर्शन को वे जीते थे।" नायकत्व की गद्दी अस्वीकृत करके—पीछे-पीछे रह कर भी सब कुछ आत्मनियंत्रित कर सकने और अग्रिम पंक्ति को निर्मित करके उसे बार-बार भटकाव से विमुख करते रहने की चेतावनी का जोखिम।—यह 'बैक बेन्चर' होड़ में नहीं पड़ता, लेकिन अपना खतरनाकपन बनाये रखता है।—वह 'खतरनाकपन,' जो अविवेक पर हमेशा एक परोक्ष अंकुश लगाये रहता है!"
—द्रष्टव्य ज्ञानोदय, मार्च, १९६९: सन्दर्भ 'मछलीघर का अनासक्त तेवर'

साही का 'खतरनाकपन' उनकी साफ, बेलाग और दो-टूक बात थी। उन्हें 'जलेबीकाट' तर्क-पद्धति पसन्द नहीं थी। उनकी बातों के दो अर्थ नहीं लगाये जा सकते थे इसीलिए उन्हें सुविधाजीवी अपने लिये इस्तेमाल नहीं कर पाता था। इस दृष्टि से उन्हें अनेक प्रतिष्ठानों में 'असुविधाजनक आदमी' ही माना जाता था। साही बुद्धिजीवी की भूमिका को सटीक ढंग से रेखांकित करते थे।

"बुद्धिजीवी की महत्त्वपूर्ण भूमिका यह है कि उसका समस्त आग्रह इस पर होना चाहिए कि तात्कालिक उद्देश्यों के लिए निरंतरता की भावभूमि की बलि न चढ़ायी जाय। बुद्धिजीवी संघटन चाहता है और

Scanned with CamScanner

सत्ता चाहती है विविक्ति या पार्थक्य!"
—सत्ता और संस्कृति: दिनमान में भेंट १५-२१ अगस्त, १९८२

साही चले गये—एक 'खतरनाक' आदमी चला गया। बहुतों का 'आसन्न खतरा' खत्म हो गया। अब कोई बिरला व्यक्ति ही 'स्वर्णनगरों' पर उँगली उठाने की सामर्थ्य रख कर कहीं खड़ा होगा।

मेरे जाते ही
यहाँ जहाँ मैं खड़ा हूँ
तुम्हें एक खालीपन का एहसास होगा
जिसे तुम हाथ बढ़ा कर
छूने की कोशिश करोगे।

मैं अब वहाँ खालीपन का एहसास कर रहा हूँ, जिसे विजयी ने पिछले चालीस बरस—भरी जवानी के मेरी जिन्दगी में दिन-रात भरा था। यादों की एक बारात ही विजयी के नाम लेते ही पूरे बाजे-गाजे और रोशन चौकी के साथ मेरे सामने अन्धी गली से निकलती चली आती है। कुँवरनारायण के शब्दों में—"साही से मिलना, बात करना एक उत्सव में शामिल होना जैसा था।" उत्सव की समाप्ति हो चुकी है—मैं दरी वालों और लाउड स्पीकर-वालों से अंतिम भुगतान करने को रह गया हूँ।

कितने ही क्षणों के साक्षी साही थे। बहुत बार जहाँ कहीं भी जाते, हम साथ-साथ जाते—अक्सर सपरिवार भी। अलग-अलग गये तो लौटते ही पूरी यात्रा का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण एक-दूसरे को बताना, जिसे हम 'आधुनिक जिज्ञासु' बनाने की प्रक्रिया से सम्बोधित करते। साही की मेरी मित्रता का एक अजीब आधार था, जिसका अनुभव बार-बार उन्हीं को होता था—"मैं जहाँ चिन्तन करने और बहस करने के बाद पहुँचता हूँ, वहाँ अक्सर तुम अपने 'इंट्यूशन' से

मुझसे पहले ही पहुँच जाते हो।" मुझे याद नहीं पड़ता कि कभी किसी बात पर साही से मेरा मतभेद हुआ हो। अक्सर हम दोनों अलग-अलग जगहों पर अलग वक्तों में जब एक ऐसी बातें कह कर लौटते तो बहुत-से श्रोताओं को यह महसूस होता कि हमने पहले से कुछ तय कर रखा था। 'परिमल' के कुछ घनिष्ठतम मित्रों के साथ कमोबेश अक्सर ऐसा हुआ है (जब तक उनके स्वार्थ उनकी महत्तर महत्त्वाकांक्षा के पर्याय नहीं बन गये) और इसी तथ्य को हिन्दी साहित्य में 'दलबन्दी' आदि के विशेषण अता फरमाये गये।

विजयी ने एक सामान्य जीवन जिया, किन्तु चिन्तन और लेखन सौ फीसदी असामान्य किया। वे असली आदमी की कदर करते थे। चाहे वह आधुनिकता का बाना पहने या दकियानूसी। वे कृतज्ञता को मूल्य मानते थे और विरोधी से भी मैत्री व्यवहार करने में कुशल थे। मित्रता, मौजमस्ती, आवारा घूमना, कविताएँ गा-गाकर पढ़ना, हाजिरजवाबी, तुकबन्दियों में बोलना, नकलें उतारना, चलते-फिरते सड़क-साहित्य रच लेना, हँसी-हँसी में गहरी बातें कह देना, गहरी बातों में हँसी की फुलझड़ियाँ छोड़ना, अपने संबंधों को कभी न भुनाना——खाना-पीना दावतें—आयोजन, परिवार का भरण-पोषण, उसकी अतिरिक्त जिम्मेदारियाँ खुद ओढ़ लेना—खाली वक्त को आँगन के बगीचों में बदल देना, कॉफी हाउस रोज जाना—बहस, हर एक की बात बड़े ध्यान से मंत्रमुग्ध श्रोता की तरह सुनना——पढ़ना-पढ़ाना, मिलना-जुलना, देश के हर कोने में कभी लोहिया मंच के नाम पर, कभी सेमिनार और गोष्ठियों के नाम पर दौरे करते रहना ——उसी में तीन-चार महीने यूरोप से मंगोलिया तक भारतीय संस्कृति के व्याख्याता के रूप में घूम आना——यह सब विजयी एक साथ निभाते रहे। उन्होंने अपनी विदेश-यात्रा या अनेक भाषा का ज्ञान कभी अकारण नहीं बखाना। [illegible] आज की दुनिया में अलग लगते थे। यूनिवर्सिटी

Scanned with CamScanner

में अन्त समय तक वह छात्रों के बीच लोकप्रिय बने रहे। अक्सर विवादों में उन्हें हर पक्ष अपना निर्णायक मान लेता था। वे यूनिवर्सिटी के एक हॉस्टल में अधीक्षक थे। लड़कों के दो गुटों में लड़ाई हुई। साही तक बात आयी। लड़कों के साथ मिल कर उन्होंने उसका सर्वमान्य फैसला तो कर दिया, किन्तु स्वयं इस्तीफा दे दिया। शायद ही आज के विश्वविद्यालय के माहौल में कहीं ऐसी घटना सुनी गयी होगी, जहाँ विद्यार्थी रो-धोकर, पश्चात्ताप करके, भूख-हड़ताल करके अपने अधीक्षक गुरु को वापस ले गये हों और उन्हें अपना इस्तीफा वापस लौटाने पर मजबूर कर दिया हो। दस दिन के इस विवाद में साही ने समाजवादी और गांधीवादी दोनों ही हरबे उपयोग किये और आश्चर्यजनक रूप से सफल हुए। विश्वविद्यालय की सीनेट और एकेडेमिक कौन्सिल की बैठकों में साही ने मौलिक सुझावों की भरमार कर दी थी। उनके अनेक सुझावों पर यूनिवर्सिटी ने कई नये काम शुरू किये। अपने अध्यापक वर्ग में वे अत्यन्त आदृत व्यक्तियों में थे।

साही के भीतर से विचारों के सोते फूटते रहते थे। वे मुक्त भाव से उस अमृत तत्त्व को बाँटते रहते। कितने कवि, आलोचक, कथाकार या नाटककार हैं जिन्हें साही ने किसी-न-किसी 'थीम' पर बात करके इतना उत्तेजित कर दिया कि उन्होंने एक नयी कृति को जन्म दिया। साही ने उन्हें सोचने-विचारने के लिए प्रचुर सामग्री दी। वे उसी लेखक की आंतरिक प्रकृति में घुस कर उसी के साथ समरस होकर उसी की विषय-वस्तु पर बात करते। अपनी तरफ से कुछ थोपते नहीं थे। ऐसा अनुभव हिन्दी के कितने ही रचनाकारों को बहुत बार हुआ है। साही उसका श्रेय स्वप्न में भी नहीं लेना चाहते थे। मौक़ा पड़ने पर उसी की बात कहकर उस पर अपने तर्क देते। अक्सर भीष्म पितामह की तरह अपने विरोधियों को भी तर्क की एक पद्धति पकड़ा देने में वे उतने ही सहज थे, जितने वे तीखे प्रहारों से उन्हें काटने का नया रास्ता

खोजने में। उन्हें इसमें मजा आता था। वे किसी व्यक्ति में अपना दिमाग बाँध कर नहीं रखते थे। लेकिन विचारों को आगे बढ़ाने के लिए किसी हद तक जाने के लिए साही तैयार रहते। ऐसा नहीं है कि विजयी व्यक्तियों के बारे में कोई राय ही नहीं रखते थे। रखते थे और बड़ी गहराई के साथ रखते थे। वे जो उनके घनिष्ठ थे, उनके बारे में भी साही बड़ी तटस्थ और पक्की राय रखते थे। सब-कुछ जानते-बूझते हुए भी वे अपने 'औघड़पन' में सब-कुछ समेट लेते थे। छोटे काम, घटिया हरकत या घटिया आचरण का साही ने विरोध किया। अपने घनिष्ठतम को भी साही ने इस तरह की हरकत करने के फलस्वरूप अपने केन्द्रीय वृत्त से निकाल बाहर किया। उस पर कोई समझौता कभी किया नहीं!

विजयदेव नारायण साही के बारे में एक भ्रम है कि उन्होंने बहुत कम लिखा है। इसमें सच सिर्फ इतना है कि उन्होंने बहुत कम छपाया है। कुछ भी प्रकाशित कराने से वे हमेशा कतराते थे। लेकिन लिखना और पढ़ना उन्होंने अन्तिम साँस तक किया। कम लोगों को पता होगा कि साही ने सशक्त नाटक लिखे, नाटक खेले, प्रमुख भूमिकाएँ कीं, निर्देशन भी किया। साही ने कहानियाँ लिखीं—प्रचुर मात्रा में व्यंग्य, कविता, कहानी, पैरोडी, सड़क साहित्य-डायरियाँ तो अनन्त हैं; जिनमें अपने वक्त के साहित्यिक एवं राजनैतिक जगत् के बड़े ब्यौरे हैं; उनमें कुछ ऐसे विषय भी हैं, जो साही को रातों-दिन मथते रहते थे। बहुतेरे अधूरे लेख, अंग्रेजी में पचीसों लेख, जो सामाजिक एवं साहित्यिक परिवेश को एक परिपक्व विचारक की दृष्टि से जोड़ते हैं। आगे काम करने वालों के लिए साही ने अपने हर लेख में पचीसों जगहें छोड़ दी हैं, जिन पर एक अलग 'थीसिस' का काम हो सकता है। हिन्दी की अनेक कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद किया—फारसी से हिन्दी में, अंग्रेजी से हिन्दी में—उनकी अपनी कविताओं की गिनती करना कठिन

Scanned with CamScanner

है। हर कॉपी, डायरी—कहीं पूरी का आभास देती हुई—कहीं अधूरी तमाम कविताएँ बिखरी पड़ी हैं। कुछ काट-छाँट कर अपना अन्तिम स्वरूप पा गयी थीं। वे सब अपने अन्तिम संग्रह के लिए तैयार हो रही हैं। एक बार साही ने एक अंग्रेजी टाइपराइटर प्राप्त किया। उस पर उँगलियाँ भाँजने के नाम पर उन्होंने, 'जर्नल्स' लिखने की शुरुआत की। वह भी एक बड़ा पुलिन्दा है। साही के खत तो कविता की तरह के झंकार पैदा करने वाले हैं। साही के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख और भाषण अब अपने अन्तिम स्वरूप में प्रकाशित होने की तैयारी में हैं। इनमें जायसी का अध्ययन तो साहित्यिक एवं खोज करने वाले जगत् के लिए बहुत मूल्यवान् होगा। साही के पहले के लिखे लेख—'छठा दशक' शीर्षक से शीघ्र ही पुस्तकाकार छपेंगे—और उनके अन्तिम भाषण भी जो लिपिबद्ध हो चुके हैं, शीघ्र ही पुस्तक के रूप में सामने आ जायँगे—ऐसा मेरा अनुमान है। साही अपने लिखे के प्रति बहुत अनासक्त या कहूँ विरक्त रहते थे। हर चीज का जवाब था—"अरे, टालो यार!" दूसरों को जरूर हमेशा लिखने और छपाने के लिए प्रोत्साहित करते। इस मामले में वे सचमुच पर-उपदेश कुशल थे।

साही को गाना अच्छा लगता था। बिना गाये वह कविता नहीं पढ़ते थे। जायसी का सम्पूर्ण विवेचन करने से पहले वह एकाध बरस तक पद्मावत का सिर्फ गा-गा कर पारायण किया करते थे। मैं उनके गाये हुए पद्मावत के तमाम खण्ड 'झेल' चुका हूँ। (ऐसा उन्होंने भरी सभा में कह भी दिया था) बृहस्पतिवार मेरी छुट्टी का दिन होता—रविवार उनकी। ये दोनों दिन ज्यादा-से-ज्यादा समय साथ बिताने की हमारी कोशिश होती। सिविल लाइन्स जाना, कॉफी पीना, फिर स्कूटर छोड़ कर पैदल घूमना—सिविल लाइन्स में एक पत्थर गिरजा है—उसमें दरवाजे हैं, जिनसे लगी सीढ़ियाँ हैं, लॉन हैं, बेन्च हैं। चर्च के चक्कर लगाते हुए उसमें घुसना, फर जाड़ा-गरमी-बरसात बराबर

उन्हीं सीढ़ियों पर बैठे सारी दुनिया का जायजा लेना—नयी घटनाओं की व्याख्या में इलाहाबाद में किसी अगले सम्मेलन या गोष्ठियाँ करने की योजना विजयी के सामने रखता। वह पहले मुझे बरजते : "किसके लिए तुम यह सब कर रहे हो ? कौन इस आपाधापी में हम लोगों के साथ खड़ा होगा ?"—और भी बहुत-कुछ नाम गिन-गिना कर उनका पूरा खाका—फिर उनकी घुसपैठी, निर्लज्ज घालमेली चरित्र की व्याख्या करते। फिर हम हँसते। लेकिन उन सब के बावजूद मेरा 'दुराग्रह' और फिर इलाहाबाद में सम्मेलनों और गोष्ठियों की अनन्त शृङ्खलाएँ, जिसमें विजयी चन्दा भी उगाहने जा रहे हैं, दरी भी बिछा रहे हैं और सम्मेलन की मूल-ग्रहस का प्रस्तावना लेख भी लिख रहे हैं। और करता भी कौन ? सभी तो चादर और दुपट्टे ओढ़ कर आने वाले और अपना सन्देश देकर चले जाने वाले अब हिन्दी में बच रहे हैं—वे जो चकाचौंध तो जरूर पैदा करते हैं, किन्तु प्रकाश नहीं देते। विजयी नहीं मरे—मर मैं गया हूँ। अब मेरे पास ऐसी कोई शक्ति नहीं, जिसे मेरी नीयत पर अन्धभरोसा हो, जो मेरे हर 'दुराग्रह' पर सीना तान कर खड़ा हो जाय और जिसके अनासक्त तेवर में यज्ञ-अग्नि की तपी वह वैरागी वाणी फूट सके। सब सन्नाटा हो गया। विजयी की आवाज में इलाहाबाद का वही स्वर बोलता था जिसमें रचनाकार को अपनी कलम की सार्थकता का बोध गहरे उतर कर होता था। विजयी के बिना इलाहाबाद अब नक्शे पर एक शहर हो कर रह गया है। यहाँ हम अस्थि-कलशों को संगम में विसर्जित करते हैं।

—केशवचन्द्र वर्मा

Scanned with CamScanner

२९

साहित्य और साहित्यकार का दायित्व

⊙ ⊙

मैं सबसे पहले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आयोजकों के प्रति साधुवाद एवं आभार दोनों ही प्रकट करना चाहता हूँ कि जिन्होंने इस बात का प्रारम्भ किया या यों कहें कि इधर शिथिल पड़ गये सम्बन्धों को पुनः जीवित किया है कि हिन्दी के कार्यरत लेखक और हिन्दी साहित्य सम्मेलन का बराबर सम्बन्ध बना रहे और हिन्दी साहित्य सम्मेलन में जो 'साहित्य' शब्द है, उसे न सिर्फ उजागर किया जाय, बल्कि उसकी प्रमुखता स्थापित हो। निश्चय ही इसके लिए शास्त्री जी धन्यवाद और साधुवाद के पात्र हैं। इधर विभिन्न कारणों से हिन्दी साहित्य सम्मेलन का यह सम्पर्क-सूत्र शिथिल हो गया था। विशेषकर जिन दिनों आदाता यहाँ पर थे, उन दिनों तो ऐसा लगता था कि साहित्य सम्मेलन का साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बहुत अच्छी बात है और शास्त्री जी ने इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया। ऐसा नहीं कि समाज के अन्य वर्गों से विचारकों का सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। लेकिन जो हिन्दी में काम करने वाले लेखक हैं उन्हें यह जरूर महसूस होना चाहिए कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन उनकी अपनी संस्था है। इसके लिए जो भी अतिरिक्त प्रयास हो, अवश्य किया जाना चाहिए और मुझे पूर्ण विश्वास है कि आगे भी यह प्रयास विभिन्न स्वरूपों में होता रहेगा।

एक स्तर पर भाषा, विचार और साहित्य—ये भिन्न नहीं रह जाते और जैसे-जैसे उनमें घनत्व बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे लेखक जो उस भाषा से दिन-रात उलझ रहे हैं उनके अनुभव समाज के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। भाषा के स्वरूप के लिए भी महत्त्वपूर्ण होते हैं—उस भाषा के बोलने वालों के लिए भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। अतः आज की इस गोष्ठी का सम्मेलन के इस भवन में प्रवर्तन करते हुए मुझे विशेष गौरवान्वित होने का आभास हो रहा है।

'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' यह दो दिनों तक चलने वाली व्याख्यानमाला का प्रमुख विषय है। मैं समझता हूँ इसको शायद कहने की जरूरत नहीं है कि साहित्य का दायित्व और साहित्यकार का दायित्व गहरे स्तर पर दोनों एक ही चीज हैं। बल्कि इस शीर्षक को देखकर मुझे यह भी लगा कि इस बहुचर्चित और विभिन्न विचारकों द्वारा काफी मथे गये विषय को, जो पहले लेखक का दायित्व या साहित्यकार का दायित्व इस रूप में अधिकतर मथा गया—शुरू से ही अगर 'साहित्य का दायित्व'—इस रूप में विचार किया जाता, तो शायद कुछ अधिक, (ऐसा तो नहीं कि विवाद न रहे) लेकिन विचार में कुछ अधिक सूक्ष्म विवेक पैदा हो सकता। अतः आयोजकों को इसके लिए भी बधाई देनी चाहिए कि उन्होंने विषय के द्वारा इस बात का भी संकेत दिया है कि 'साहित्य का दायित्व' वस्तुतः साहित्यकार के दायित्व से अलग नहीं है या साहित्यकार का दायित्व कोई अलग से ऐसा नहीं बनाया जा सकता जो साथ ही साहित्य का दायित्व भी न हो। जैसा मैंने कहा हिन्दी के लेखकों में, अगर हम ध्यानपूर्वक देखें, तो सजग रूप से दायित्व की बहस, यह १९८२ (उन्नीस सौ बयासी) है, लगभग पचास वर्षों से चल रही है। सम्भवतः इस तरह की चिन्ता की रेखाएँ उभारने वाली बहस भारतेन्दु के सामने भी नहीं थी और आरम्भिक द्विवेदी-युग के सामने भी नहीं थी। लेकिन अपने ढंग से उन्होंने अपने

Scanned with
CamScanner

दायित्व का निर्वाह किया। ऐसा नहीं है कि वे साहित्य के बारे में सजग नहीं थे। केवल वे यह नहीं समझते थे कि इस प्रश्न को दस तरफ से खोदने की जरूरत है। लेकिन इस शताब्दी के चौथे दशक के आते-आते सजग रूप से इस पर विचार-विमर्श, विवाद और कभी-कभी तो जमातबन्दी भी होती रही है। मैं इस दृष्टि से नहीं कह रहा हूँ कि पहले अच्छा था या अब अच्छा है। या यह कोई उन्नति अथवा अवनति का लक्षण है। शायद यह भी, इसके लिए भी समय कम हुआ कि हम इस पर सचमुच परिणाम घोषित कर सकें कि अपने दायित्व के बारे में सजग बहसों के कारण सचमुच रचनात्मक साहित्य की क्षति होती है या उन्नति होती है—क्योंकि बिना इस पर मंथन किये हुए निर्णय करना कठिन है।

साहित्य तब से लिखा जा रहा है जब से मनुष्य ने लिखना-पढ़ना शुरू किया। चाहे वे प्राचीन ऋषि रहे हों जिन्होंने वेद की ऋचाएँ गायीं या आदि कवि इस देश के। उनकी रचनाओं से ऐसा नहीं लगता कि उनको इस बात की आवश्यकता थी कि आओ बैठकर साहित्यकार के दायित्व पर थोड़ा विचार करें और हिन्दी में भी १९वीं शताब्दी तक इसकी कोई विशेष जागरूकता नहीं थी। जैसा मैंने कहा कि अति सजगता तो २०वीं शताब्दी में ही आयी। वस्तुतः केवल हिन्दी में नहीं, अंग्रेजी और यूरोपीय साहित्य में भी यह अति जागरूकता वस्तुतः २०वीं शताब्दी में ही आयी। अंग्रेजी के १९वीं शताब्दी के प्रमुख विचारक मैथ्यू आर्नल्ड या १९वीं शताब्दी के कवि और विचारक फ्रांस के, जर्मनी के, रूस के भी उदाहरण के लिए टॉलस्टॉय, चेखोव, नार्वे के इब्सन जिन्होंने साहित्य में बहुत तरह के परिवर्तन किये। बहुत दूर तक आते-आते कुछ भंगिमा तो दिखायी पड़ती है। थोड़ा सजग रूप से सोचा तो जाय कि हम कर क्या रहे हैं और क्यों? लेकिन टॉलस्टॉय या चेखोव या इब्सन—इनसे ऐसा नहीं

लगता है कि उस सम्बन्ध में बहुत सूक्ष्म विवेक करने के लिए उनके पास फुरसत है। लेकिन अगर हम मान भी लें तो १०० ही वर्षों का प्रमाण हमारे पास है या १०० से कम मान लें।

सारे संसार के साहित्य में और हिन्दी में भी कुछ अधिक विचार हमने किया। इसको हम विचार नहीं मानते कि तुलसीदास ने एक चौपाई लिख दी बहुत-सी बातें लिखते समय कि 'सुरसरि की भाँति सबका भला हो, यही साहित्य का दायित्व है।' क्योंकि इतना तो कह दिया उन्होंने, मगर इस पर उन्होंने ऐसा नहीं किया कि कोई दर्शन खड़ा किया हो या इस पर कोई बहुत सूक्ष्म विचार किया हो। यह स्वतः सिद्ध बात थी, जिसे उन्होंने कह दिया। इस प्रकार कि जैसे इस पर भी कोई बहस होनी चाहिए कि भाई जो बात कहो ऐसी कहो कि सबकी भलाई हो। या तुलसीदास के ही थोड़ा पूर्व जायसी ने कहा कि—'ओ मन जानि कवित अस कीन्हा, मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा।' यह जायसी ने उद्देश्य अपना दिया इसके पहले जो चौपाई है, वहाँ अपने बारे में बताया कि मैं मुहम्मद जायसी कवि हूँ और मैंने ऐसी रचना की। इसलिए की कि मेरी पहचान जगत् में शेष रहे। अब आप कह सकते हैं कि अपनी पहचान या आज की भाषा में कहें, हालाँकि 'पहचान' आज की ही भाषा है, कि लेखक अपनी पहचान स्थापित करता है। वह जायसी के शब्दों में 'चीन्ह' हुआ। या थोड़ा और पहले की भाषा थी कि लेखक अपनी अस्मिता साहित्य के द्वारा स्थापित करता है। तो जब जायसी यह शब्दावली इस्तेमाल करते हैं कि "मैंने यह रचना इसलिए की कि मेरी पहचान रहे जगत् में !" तो यह इसका एक अर्थ है या एक स्वरूप है साहित्यकार के दायित्व का या जैसा कि तुलसीदास में मिलता है कि कभी कहा कि अपने सुख के लिए यह रघुनाथ गाथा गायी है, कभी कहा कि भाई बात तो वही कहनी चाहिए, जिससे सबकी भलाई हो। लेकिन अगर हम सूक्ष्म रूप से यह भी मानें

कि जायसी का आग्रह किसी और चीज पर है, तुलसीदास का आग्रह किसी और चीज पर है—या उससे भी आगे और कवि हुए जिन्होंने कहा कि, "आगे के सुकवि जो पै रीझिहैं तो कविताई, न तु राधिकौ-कन्हाई सुमिरन को बहानो है।" यह कि हम कविता को दोतरफा उद्देश्य में बाँधते हैं कि काव्य रूप में यदि हमारी कीर्ति मान ली जाय, शुद्ध कवि के रूप में तो फिर क्या है—वाह-वाह ! और फिर मानने वाले कौन हों ? सारा समाज नहीं। केवल गोष्ठियाँ करके कवि लोग फतवा दे दें कि हाँ इन्होंने कविता लिखी। सारा समाज कहे कि उन्होंने कविता लिखी तो उनको उतना सन्तोष नहीं है जितना कि 'आगे के सुकवि मानि हैं तो' और यदि यह नहीं प्राप्त हुआ और आगे के सुकवियों ने कहा कि कुछ नहीं बकवास किया है उन्होंने ! तो सबको छोड़ करके राधा-कन्हाई सुमिरन तो हर एक के बूते का है। जिसके अन्दर प्रतिभा हो तो भी कर सकता है स्मरण-नितान्त गुणहीन प्रतिभा-हीन व्यक्ति भी। राधा-कृष्ण का स्मरण करने से कौन किसको रोकता है ? तो उसे दोतरफा मान लिया कि गुणी मानें तो गुणियों के बीच में और यदि गुणी न कहें कि गुणी है तो एक सामान्य व्यक्ति का अधिकार तो हमारे पास है ही। तो आप देखेंगे कि ये सारे नजरिये, ये दृष्टिकोण अलग-अलग चीजों पर आग्रह करते हैं। आज हम बहुत ध्यान से उस समय का साहित्य, उस समय का समाज—इनको देखें। जायसी किस प्रकार, किस समाज में लिख रहे थे, किस संदर्भ में लिख रहे थे ? तुलसीदास किस संदर्भ में लिख रहे थे ? सूरदास किस संदर्भ में लिख रहे थे ? या आगे के रीतिकालीन कवि किस संदर्भ में लिख रहे थे। आज हम अगर इसको ध्यानपूर्वक देखना चाहें तो देख भी सकते हैं और कुछ अन्दाज भी लगा सकते हैं कि यह 'आग्रह-भेद' क्यों है ? या यह भी अन्दाज लगा सकते हैं कि वस्तुतः यह आग्रह-भेद भी बहस करने के लिए नहीं कहा जा रहा है। एक स्वाभाविक वृत्ति

Scanned with CamScanner

जैसी उनकी दिखायी पड़ रही है। जैसे वे मानकर चल रहे हों कि 'भाई कवि तो वही है कि जिसे गुणी लोग आदर करें। इसलिए आगे के सुकवियों को मानना जरूरी है। राजा-वाजा के मानने से कुछ नहीं होता।'

रीतिकालीन कवि माना जाता है कि सबसे अधिक राजदरबार में किसी प्रकार राजा द्वारा समादृत होने के लिए दौड़ा करता था। लेकिन वह यह जानता था राजा पैसा जरूर दे देंगे। लेकिन मानेंगे यदि गुणी, तभी मैं गुणी कहलाऊँगा। इनके कहने से मैं कवि नहीं हो जाऊँगा। एक वह भी था--और वह यह भी देखता था कि राजा इतने मूर्ख होते जा रहे हैं या इस प्रकार के होते जा रहे हैं कि किसको कब पुरस्कार दे दें, इसका कोई ठिकाना तो है नहीं। तो इसलिए सभी कवि जानते थे कि पुरस्कार लेना हो तो राजा के पास जाइये। उसके दन्द-फन्द दूसरे हैं। लेकिन कवि के रूप में बना रहना हो तो गुणियों का ही 'सर्टिफिकेट' चाहिए--ऐसा उस समय के कवि को लगता था। अब मैंने आपके सामने यह आग्रह-भेद इसलिए प्रस्तुत किया कि इससे क्या हम कोई जागरूक बहस का अन्दाजा लगा सकते हैं? विवाद का या गम्भीर विवेक का-कि क्या कहीं कहने से क्या-क्या परिणाम दूरगामी निकलते हैं? उदाहरण के लिए अगर मैं कहूँ कि जिस कवि ने भी कहा हो कि हम राधा-कन्हाई के स्मरण के लिए कविता लिखते हैं या उसका बहाना है या कम-से-कम कवियों के सामने एक दरख्वास्त रखते हैं कि हमारे गुण को आप स्वीकार करें। वस्तुतः दुर्भाग्य तो उन कवियों का यह हुआ कि आगे के कवियों ने—छायावाद तक तो उसको कवि ही नहीं माना गया और वह भी उनका दुर्भाग्य हो गया कि आगे के सुकवियों ने उन्हें कवि नहीं माना और पन्त जी ने तो 'पल्लव' की भूमिका में लिख कर यह स्पष्ट कर दिया कि ये तो न जाने क्या-क्या बोलते रहते हैं--यह तो हमारे पल्ले कुछ नहीं पड़ता और

राधिका-कन्हाई स्मरण इनमें है नहीं। यह तो बड़े-बड़े आलोचकों ने कह दिया कि जो भक्ति की वास्तविक प्यास थी, वह रीतिकाल तक आते-आते समाप्त हो गयी। यह तो राधिका-कन्हाई का भी स्मरण नहीं कर रहे हैं। यह तो कोई और लालसा है जो कि राधिका-कन्हाई के बहाने से सम्भवतः परस्त्री-गमन का स्मरण करना चाहते हैं। आगे के लोगों ने तो ऐसे-ऐसे आरोप लगा दिये! तो वे बेचारे कवि तो दोनों तरफ से गये। लेकिन हो सकता है कि यदि हम और गम्भीरतापूर्वक देखें तो कहें शायद ये भी अपनी वास्तविक भूमिका को नहीं देख रहे हैं। सम्भवतः जिन लोगों ने बाद में रीतिकालीन कवियों के पक्ष में लिखा--उन्होंने अधिक जोर इस पर दिया। शुक्ल जी के बावजूद भी उनकी असली भूमिका थी कि ऐसे समय में जब परम्परा के बहुत-से स्वरूप बिखर रहे थे, टूट रहे थे, तब उन्होंने परम्परा को कितना ही छोटा सही लेकिन जोड़ कर एक तारतम्यता दी और तारतम्यता को चिपक कर पकड़े रहे कि जब सब टूट जायगा, तब भी जो यह साहित्य के संबंध में चली आ रही है, प्राचीन धारणा कि कैसे लिखना चाहिए? क्या लिखना चाहिए? मर्यादाएँ क्या होती हैं? कहते समय बात को कितनी दूर तक कहना चाहिए? कहाँ तक संयम बरतना चाहिए? यह सब बहुत-से औचित्य और अनौचित्य के विचार या कहने की भंगिमा--यह सब उन्होंने अपना एक सांस्कृतिक दायित्व समझ करके निर्वाह किया।

हो सकता है कि आज हम यदि उनका यह दायित्व मानें तो इसी के लिए शायद रीतिकालीन कवि महत्त्वपूर्ण माने जायँ! जो मैं समझता हूँ। रीतिकालीन कवियों का महत्त्व ऐसा है कि ऐसे समय में जबकि परम्परा के मूल्यवान् अंशों के बारे में दृष्टि ही विलुप्त हो रही थी, उस समय उन्होंने आधा समझ कर और आधा बिना समझे सही, इतना कहा कि चिपक कर पकड़े रहो, नहीं तो आगे करखा इतना तेज

Scanned with CamScanner

है कि भाषा बोलना भी भूल जाओगे और सिवाय गाली के और मुँह से कुछ नहीं निकलेगा और कहने के ढंग में जो एक मिजाज होना चाहिए, एक सभ्यता होनी चाहिए—यही बनाये रखो। कम-से-कम बिहारीलाल का और कुछ न मानें तो इतना तो हम मानेंगे ही कि कहने के ढंग में पढ़े-लिखे सभ्य आदमी में, सुसंस्कृत आदमी में और नितान्त जाहिल में कुछ थोड़ा अन्तर होता है। बात हम भी वही कर रहे हैं, तुम भी वही कर रहे हो। लेकिन देखो हमारे अन्दर थोड़ा-सा बाँकपन है और यह बाँकपन हमारी सभ्यता, हमारी परिस्थिति जो भी उसका नाम हो, मान लो—यह अपने दिमाग में वे रखते थे।

अब हम कहेंगे कि बिहारीलाल को पढ़ते समय, मतिराम को पढ़ते समय ये चीजें सामने नहीं आतीं। लेकिन हम जानते हैं कि उनके अन्तस् में—पूरे-पूरे काव्य में जो रसी-बसी चीज है, उसे हम आप थोड़ा दूर से देख रहे हैं तो समझते हैं कि कर्मतः जो भी वे कर रहे हैं, वस्तुतः कवि-सम्मेलन में तुक लगा रहे हैं। अपने जाने में ये यही कह रहे हैं लेकिन वस्तुतः उनके अनजाने में ही सही जो दायित्व इन्होंने निभाया वह दूसरा है। या उदाहरण मैं दूँ कि ऐसे समय में जब इस बात का खतरा था—एक और बात सांस्कृतिक भूमिका की बात बता रहा हूँ—इस बात का खतरा था कि जिसको आप हिन्दी-भाषी प्रदेश कहते हैं, यह विभिन्न प्रकार की बोलियों में टुकड़े-टुकड़े टूट जाता—उस समय इन कवियों ने लाहौर से लेकर दरभंगा और ऊपर कुलूघाटी से ले करके सतारा तक बिना बहस किये—बिना गोष्ठी किये एक आन्तरिक प्रेरणा द्वारा यह निश्चय किया कि रहने वाले हम चाहे जहाँ के हों, हमारे गाँव की बोली चाहे जो हो, कविता हम सब ब्रजभाषा में करेंगे। यह तो बहुत बड़ा फैसला था। अगर यह फैसला न किया होता ब्रजभाषा के कवियों ने और उस पर सौ-डेढ़ सौ वर्ष न लगाये होते तो भारतेन्दु के लिए यह सहसा सम्भव

Scanned with CamScanner

न होता कि बोली उनकी बनारस की है और एक दिन तय करते हैं कि हम मुजफ्फरनगर वाली बोली में लिखेंगे। और आज जो हम यों कहते हैं कि बोली चाहे तुम्हारी दरभंगा की हो लेकिन कविता लिखो खड़ी बोली में। अब तो जो खड़ी बोली है वह मुजफ्फरनगर की ही है—जिस प्रकार कि ब्रजभाषा के साथ हुआ कि 'एते एते कविन की बानी ही सों जानिए'। केवल ब्रजवास से ही ब्रजभाषा नहीं निकलती जो कवि लिख गये हैं, वह भी ब्रजभाषा है।

धीरे-धीरे खड़ी बोली के साथ वही हो गया। केवल मेरठ में नहीं निश्चय होगा कि खड़ी बोली क्या है? जो भारतेन्दु लिख गये हैं, जो द्विवेदी जी लिख गये हैं, जो रामचन्द्र शुक्ल लिख गये हैं, जो हजारी प्रसाद द्विवेदी लिख गये हैं और जो आज जगदीश जी लिख रहे हैं, गिरिराजकिशोर लिख रहे हैं और बिहार में 'दिनकर' लिख गये हैं—इनकी वाणी से जानिये कि खड़ी बोली क्या है? इतना प्रमाणित कर देने मात्र से कि मुजफ्फरनगर में ऐसा नहीं बोला जाता, (जहाँ की वह जन्मजात है) उससे निश्चय थोड़े ही हुआ। यह किसने किया? यह क्षमता किसने दी कि इस सबके बावजूद हम इतने बड़े क्षेत्र को, देश को एक धागे में बाँधे हुए हैं और बहुत प्रयासों के बाद भी हमको लगता है कि हम अपनी मातृभाषा छोड़ देंगे। हमारी मातृभाषा तो बनारस की भोजपुरी है। मैं जानता हूँ कि एक मरतबा भारत सरकार की एक कमेटी थी। शिमला में उसकी बैठक हो रही थी। मुझे भी उस सेमिनार में बुलाया गया। तो उसमें एक प्रस्ताव छोटा-सा कुछ बुद्धिजीवियों ने रखा कि जहाँ भी जिस क्षेत्र की जो बोली है, उसी बोली में प्राइमरी की पुस्तकें पढ़ायी जायँ। देखने में बड़ा अच्छा लगता था। मैंने उसका विरोध किया। मैंने कहा कि मेरे नगर की बोली भोजपुरी है और वह भी बनारस की भोजपुरी है। बलिया वाली वह भी नहीं। लेकिन यह तो मेरे बाबा भारतेन्दु ने तय कर दिया कि वह

अब मेरे निश्चय के बाहर की बात है। उन्होंने तय कर दिया कि मेरा बच्चा दर्जा एक में पढ़ेगा तो 'यह राम का घर है।' यह वाक्य पढ़ेगा। 'यह राम काऽ घरऽ बाडे' यह नहीं पढ़ेगा। बोलें आप चाहे जो लेकिन पहला वाक्य जो इसका आप उसे पढ़ाते हैं—'यह राम का घर है।'

वस्तुतः जिस प्रकार से पहला वाक्य हम पढ़ते हैं—वह न भोजपुर की भाषा है, न मगध की भाषा है, न मुजफ्फरनगर की ही भाषा है। वह एक ऐसी भाषा है जो—'एते-एते कबिन की बानी हू सो जानिये' वही है। यह दायित्व किसने लिया ? इसके ऊपर भी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बहुत तरह की खोज की है और उन्होंने कहा है कि इस प्रदेश में बराबर अपभ्रंश के साथ एक प्रकार का प्रतिमानीकरण होता रहा और अलग-अलग क्षेत्रों से टूट करके भाषा बनती रही। कबीरदास में भी वह दिखायी पड़ता है। लेकिन अभी उन पर बहुत विस्तारपूर्वक विचार नहीं हुआ। प्रतिमानीकरण और क्षेत्रीयकरण–इसके दो जो तनाव हैं, जिनके वास्तविक हल को हमने अब २०वीं शताब्दी में कम-से-कम हिन्दी के सम्बन्ध में प्राप्त किया है। यह कई बार प्रयास हुआ और कुछ टूटा, कुछ बिखरा और एक तरफ प्रादेशिक भाषाएँ नहीं बोलियाँ अपनी तरफ खींचती हैं और दूसरी तरफ हिन्दी खड़ी बोली। आज हम यह कह सकते हैं कि उदयपुर में बैठा हुआ कवि जो भाषा हिन्दी की लिखेगा, वह वही होगा जो दरभंगा में बैठा हुआ कवि लिखेगा। लेकिन मीराँ की भाषा एकदम वैसी नहीं है, जैसी कि विद्यापति की। यह हम दिखा सकते हैं कि मीराँ बिल्कुल राजस्थान से बँधी नहीं हैं और विद्यापति बिल्कुल मैथिली से नहीं बँधे हैं।

एक तड़प है अन्दर कि क्षेत्रीय बोली को थोड़ा आगे बढ़ायें और कहीं मिला कि नहीं लेकिन जब आज मिल गया तो हमें जरूर देखना चाहिए कि क्यों कैसे ? तो साहित्य में एक सब से बड़ा कार्य—जिसने यह कहा कि 'एते-एते कबिन की बानी हू सों जानिये।' वह विचारों

CS Scanned with CamScanner

के द्वारा कहने की शैली के द्वारा, अपनी सभ्यता के स्तर को निरन्तर बनाये रहने के कारण, बहुत कारणों से वह प्रमाण पैदा होता है—भाषा और उसके साहित्य में। जो बिना किसी का गला दबाये, किसी का गला नहीं दबाया गया कि आपको यही हिन्दी लिखना है। लेकिन बनारस का प्रसाद, बैसवाड़े का निराला, लमही गाँव का प्रेमचन्द—ये सब, इनकी बोलियाँ चाहे जो रही हों, लेकिन बिना किसी दबाव के लिख उसी एक भाषा में रहे थे क्योंकि वह सब से बड़ा आकर्षण था उस खड़ी बोली का। क्योंकि उसमें एक प्रकार का साधुपन, एक प्रकार का आप अगर कह दें—उस समय के वातावरण को आत्मसात् करने की क्षमता। क्योंकि वातावरण केवल उतना ही नहीं है कि जितना हमने गाँव से सीखा। वातावरण वह भी है जिसे हम भविष्य में अपेक्षित करते हैं। सपना देखते हैं तो जब भाषा आज जो हम हैं और कल का जो हम सपना देखते हैं—इन दोनों के तनाव को एक संतुलन पर स्थापित कर देती है। तभी वह धीरे-धीरे अपने आप लोगों को भी स्वीकार हो जाती है। नहीं तो खिंचाव बराबर बना रहता है। टूट जाती है। तो अगर कोई कहे कि यह कोई बहुत बड़ा दायित्व तो हुआ नहीं साहित्य का—तो मैं विनम्रतापूर्वक निवेदन करूँगा कि इस पर बहस जरूर हो। १८वीं-१९वीं शताब्दी के कवि इस पर बहस नहीं करते कि देखो हम कितना बड़ा कार्य कर रहे हैं। लेकिन हम जान जरूर सकते हैं कि जिस आदमी ने कहा कि 'एते-एते कबिन की बानी ही सो जानिए।' उसने कहा ही तभी जब उसको अपने आस-पास एक टेन्शन दिखायी पड़ा। किसी ने कहा होगा कि वाह ! यह क्या ब्रजभाषा हुई। यह तो ब्रज की भाषा नहीं है। नहीं है तो ब्रजभाषा कैसे हुई ? तो उसने कहा कि ब्रजभाषा तो मैं पूरे हिन्दी प्रदेश की बना रहा हूँ। यह चेतना उसमें रही होगी, तभी तो उसने कहा।

तो यह जो सांस्कृतिक समाज के अन्दर फैलने का कार्य है संस्कृति

को सबके भीतर निहित करने का कार्य है, बहुत अंशों से बहुत प्रकारों से होता है। उसमें से यह समाज को एकाग्र करने का, एकत्र करने का इतना बड़ा दायित्व है, जो जब पूरा हो जाता है, तब लगता है कि यह तो कोई दायित्व नहीं है। लेकिन जब तक नहीं पूरा हुआ रहता, तब तक कितनी-कितनी कठिनाइयों से गुजरना होता है। यह देश, यह प्रान्त, यह भाषा, यह पूरा प्रदेश दस भाषाओं में न बँट जाय, इसके विचार करने का ढंग एक तरह से हो सके।

अभी तो आपने 'हिन्दी-दिवस' मनाया था तो लगता है कि न जाने कितनी राजनीति-पर-राजनीति की गुत्थियाँ फँस गयी हैं। इस मामूली-से काम के लिए इस पूरे प्रदेश को बाँधने वाली भाषा और या पूरे देश को बाँधने वाली भाषा। और जब हम आपके सामने यह कहेंगे कि हिन्दी साहित्य के उन लेखकों ने जिन्होंने आज की तरह कोई गोष्ठी नहीं की लेकिन अपने उन्मेष से अगर मैं कहूँ अपने तेवर से––क्योंकि मुझे लगता है कि जब बिहारीलाल को मैं पढ़ता हूँ तो इससे लगता है कि जिस तेवर से यह आदमी बोल रहा है उस तेवर से तो उसके पास तो यह प्रमाण है कि किसी भी दूर-दराज के आदमी को कह दे कि जब तक ऐसे बोल नहीं सकते तब तक तुम पढ़े-लिखे आदमी नहीं हो सकते। ऐसे आग्रह जो साहित्य में––एक दायित्व में न सिर्फ स्थापित हैं बल्कि निरन्तर प्रकट होते रहते हैं। चाहे कोई उनके प्रति जागरूक हो और चाहे न हो। और आज जब हम हर चीज को अणुवीक्षण से देखना चाहते हैं तो अच्छा हो कि इस जागरूकता को भी हम देखें। इसमें जो काम कर रहे हैं समाज को एकाग्र करने का एक महत् कार्य ––यह कार्य साहित्य का और साहित्य में रसी-बसी भावना का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। मैं यह मान कर चलता हूँ कि समाज की ओर से लेखक ही बोल सकता है––समाज बदल रहा है और समाज को बदलना चाहिए। शायद मैं यह कह सकता हूँ कि यदि समाज जिस

समाज में साहित्य रचा जा रहा है वह समाज यदि एकत्र हो चुका है तो उसके टूटने की गुंजाइश नहीं रह गयी। उसके ऊपर इतने तरीके से तरह-तरह के संगुम्फन हो चुकते हैं। तब हम कह सकते हैं कि अब साहित्यकार को इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि वह समाज को संगुम्फित करे। क्योंकि यह जो संगुम्फन की चिन्ता घेरती है तो जस-का-तस बने रहने देना चाहिए यह प्रतीति जागती है। परिवर्तन स्वीकार कर लेगी तो पता नहीं क्या गड़बड़ हो जाय! इसलिए जैसा है वैसा ही बना रहने दो। और परिवर्तन वाला कहता है कि जैसा है उससे तो हम ऊब गये हैं इससे तो अच्छा है कि अब एक छलाँग लगाएँ तो टूट जायगा टुकड़े-टुकड़े हो जायगा, हो जाने दो। लेकिन यह चिन्ता वस्तुतः उन्हीं देशों की चिन्ता है जहाँ पर यह तनाव और परिवर्तन दोनों ही एक साथ आते हैं। आज सन् १९८२ में यह कहना कि हिन्दुस्तान में हम इससे मुक्त हो गये हम संगुम्फन की बात या संगुम्फन से जो जुड़े हुए मूल्य हैं उनको एकदम विस्मृत कर सकते हैं। आज इसको लेकर मैं एक सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक बहस में फिलहाल नहीं जाना चाहता हूँ। मैं यह जानता हूँ कि एक देश में जिससे हम लोगों का कुछ अधिक सम्पर्क रहा है इंग्लैण्ड में रानी पहली एलिजाबेथ के समय में बहुत-से लेखक हुए जिनमें शीर्ष पर––आप सब इस नाम से परिचित हैं––शेक्सपियर का नाम था। शेक्सपियर जिस समय लिख रहा था उस समय अंग्रेज–अंग्रेजी का समाज जिस संतुलन पर था वह संतुलन इतना चंचल संतुलन था कि कभी भी टूट सकता था। इसका प्रमाण इसी में है कि शेक्सपियर के मरने के आधी शताब्दी के भीतर-ही-भीतर सिविल वार हुई और सिर्फ अंग्रेज सरकार ही नहीं बल्कि यह स्काटलैण्ड से इंग्लैण्ड से जो एका हुआ था कि एलिजाबेथ के मरने के बाद जेम्स दी फर्स्ट जब गद्दी पर बैठाया गया तो इस बात का इस्तगासा था और वह लन्दन में इंग्लैण्ड की गद्दी पर बैठा दिया गया।

Scanned with CamScanner

इस तरह स्काटलैण्ड इंग्लैण्ड एक में मिलाया गया--जोड़ा गया--नहीं तो ये तो दो अलग-अलग राज्य थे। अलग-अलग देश थे। तो स्वयं अंग्रेज तो रहते थे इंग्लैण्ड में और उसका एक छोटा-सा टुकड़ा स्काटलैण्ड बहुत बड़ा देश नहीं है। इंग्लैण्ड भी छोटा ही-सा देश है। लेकिन वहाँ के समाज में ही उस समय अस्थिरता थी। इस अस्थिरता को स्थिर होते-होते एक शताब्दी इंग्लैण्ड में लगी। १६८३ तक आते-आते उनके इतिहास में ऐसा लगा एक पूरी शताब्दी गुजर गयी। अब करीब-करीब एक सम्पूर्ण रूप में स्थिर समाज-संगुम्फित समाज हो गया। जिसके बाद फिर उनके भीतर परिवर्तन लाने को टोरी पार्टी अलग बन गयी और पार्लियामेण्ट के नये ग्रूप आने लगे। यह सब हुआ तमाम। इससे हम क्या सीखते हैं? इससे हम सीखते हैं कि अगर उस आधा बदलते हुए और आधा टूटते हुए दोनों खतरों से गुजरते हुए समाज को देखें तब हम देखेंगे कि उस समाज को अन्त में जोड़े रखने का काम शेक्सपियर समेत जितना अन्य उस समय के लेखकों के प्रभाव ने किया—शेक्सपियर के नाटक ऐतिहासिक नाटक--क्योंकि इंग्लैण्ड के इतिहास संबंधी बहुत-से नाटक उसने लिखे हैं। जैसे इतिहास संबंधी बहुत-से नाटक जयशंकर प्रसाद ने लिखे हैं वैसे ही अपने देश के इतिहास के संबंध में, अपने देश के गौरवपूर्ण इतिहास के संबंध में, शेक्सपियर ने बहुत-से नाटक लिखे हैं। इसी प्रकार से लोगों के दुःख-दर्द के नाटक और उसकी कॉमेडी उसकी ट्रेजेडी सब, इन सब भावनाओं के लिए स्तर प्रदान किया, मानवता के लिए एक सामान्य स्तर प्रदान किया। इंग्लैण्ड के लोगों की एक अपनी अस्मिता ऐसी बनायी ताकि वह कलेजा चौड़ा करके औरों के साथ मिल सकें और इस प्रकार की बुनियाद डाली शेक्सपियर और उसके साथ उसके समकक्ष के लेखकों ने कि इंग्लैण्ड की जो राष्ट्रीयता थी उसके संदर्भ निरन्तर एक तरफ मुखातिब हो जाय। इस पर बहुत-से विचारकों ने विचार किया है कि जो राष्ट्रीय

Scanned with
CamScanner

उन्मेष था इंग्लैण्ड का-उसको एक प्रकार का निदेशन साहित्य ने दिया। जब वह राष्ट्रीय उन्मेष हो गया और एक सामाजिक अस्मिता को पहुँच गया तब उसके बाद अंग्रेजी साहित्य में अलग-अलग दायित्व की अलग-अलग परिभाषाएँ हुईं। मैं यह निवेदन करना चाहूँगा कि अगर आज बीसवीं शताब्दी तक हिन्दी साहित्य का भारतेन्दु युग मानें तो आप देखेंगे कि यह राष्ट्रीयता में बाँधे रहने की चिन्ता यह समाज को एकत्र किये रहने की चिन्ता विभिन्न प्रकार से भारतेन्दु से लेकर प्रेमचन्द तक में दिखायी पड़ती है। और आज भी यह निराला में भी आप, या परवर्ती लोगों में भी निरन्तर एक चिन्ता दिखायी पड़ती है कि हम अपने संस्कारों को परिवर्तन के साथ-साथ उनमें जो सबको संजो कर रखने की चीज है उसको भी एक महत्त्वपूर्ण रूप दें और इस प्रकार से हम अपने दायित्व को, एक-एक दायित्व का निर्वाह करें ताकि हमारी राष्ट्रीयता खण्डित न होने पाये। संस्कृति की, कोई ऐसी परिभाषा न गुणीभूत होने दें। जिसके कारण विभिन्न अंग एक दूसरे से अपरिचित हो जायें और इतने अपरिचित हो जायें कि इनके सोने का ढंग अलग, मेरे सोने का ढंग अलग, इनके जागने का ढंग अलग, मेरे जागने का ढंग अलग, इनके रोने का ढंग अलग, मेरे रोने का ढंग अलग। तो यह जो अपने देश की संस्कृति में संजोना कहते हैं—ये कभी-कभी ऐसा लगता है कि जब बहुत अतिरिक्त चिन्ता का विषय हो जाता है तो केवल जैसा मैंने कहा 'जस का तस बनाये रखने—इसकी ओर बढ़ता है। तो परिवर्तन जो चाहते हैं उससे लगता है कि यह समाज को जोड़े रहने वाले जो मूल्य हैं इनकी चर्चा वही लोग करते हैं जो वस्तुतः समाज को बदलने नहीं देते। एक हद तक किन्हीं-किन्हीं ऐतिहासिक स्थितियों से। और आज १९८२ में मुझे बहुत प्रसन्नता होती अगर मैं यह कह देता कि अब वह आवश्यक नहीं रह गया। अब वह हो गया है कि अब उस पर आग्रह की जरूरत नहीं है। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि

अभी भी हम झंझट में हैं। मूल्यों के संक्रमण में हैं जिसमें समाज को जोड़े रहने की प्रवृत्ति वह भी हमारी भावना का उतना ही अंग है और समाज को जोड़े रहने के लिए हमें अपने जो परम्परागत सांस्कृतिक मूल्य हैं इन सांस्कृतिक मूल्यों का निरन्तर नया-नया आवाहन करने की जरूरत है। यह हम नहीं कर पायेंगे कि जितने सूत्र समाज को जोड़ने के लिए, बहुत-से ऊपर से नीचे वाला जुड़े बगल-बगल वाले जुड़ें अगर हम यह कहें कि किसी स्तर पर जो कोई भी संस्कृति हो–सामन्ती संस्कृति तो सामन्ती संस्कृति का एक स्वरूप होता है कि वह राजा है और वह प्रजा है—प्रजा का अर्थ होता है सब से दुर्बल और गरीब। इन मूल्यों के कारण वे समझते हैं कि हम दोनों एक हैं। यह चित्तौड़ का राजा है और मैं चित्तौड़ का चमार हूँ। लेकिन हम दोनों इस चित्तौड़ के आदमी हैं या इस देश के हैं। उस प्रकार की संस्कृति–उस प्रकार के मूल्यों का समुच्चय बहुत-सी सामन्ती प्रवृत्तियाँ बनाती हैं। जब नीचे का आदमी यह सोचने लगता है कि राजा और मेरे अन्दर कामन प्वाइण्ट क्या है ? अब तो मैं इस राजा को हटाना चाहता हूँ तब वह जो पहले जोड़ने वाली परिस्थिति थी वह आड़े आती है—अरे तुममें और राजा में लड़ाई क्यों हो। देखो तुम भी उसी शिव को मानते हो यह भी उसी शिव को मानता है—दोनों शिव के पुजारी हैं। अगर तुमने लड़ाई किया तो ऐसा न हो कि शिव की जगह कोई और देवता यहाँ पूजा जाने लगे—यह डरवाता है। लेकिन जब आग्रह अधिक बढ़ता है तो वह कहता है शिव गये भाड़ में हम तो इस राजा को हटा देंगे। इतना कह देता है कि शिव तो गये भाड़ में !! तब खतरा लगता है कि अगर शिव भाड़ में चले जायेंगे तो यह समाज समाप्त हो जायगा।

आज हम ऐसे ही संक्रमण में से गुजर रहे हैं। ऐसी स्थिति में आप जरा इस पर सोचें कि बँगला देश और पाकिस्तान अभी ये दो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बने। लेकिन बँगला देश और पाकिस्तान जब से

CS Scanned with CamScanner

टूटा तो उसमें बहुत एक विचित्र प्रश्न था। उस समय जब मुजीबुर्रहमान घूम रहे थे तो बहुत-से झगड़ों के अलावा यह भी एक झगड़ा था कि बँगला देश में प्रमुखता इकबाल को दी जायगी या रवीन्द्रनाथ ठाकुर को या रवीन्द्रनाथ ठाकुर को छोड़ दीजिए—नजरुल इस्लाम को। इनके बाद बंगाल में ये दो कवि नजरुल इस्लाम और रवीन्द्रनाथ ठाकुर और जो संस्कृति उधर की आ रही थी लाहौर से वह विश्वविद्यालयों में कालेजों में और छोटी प्राइमरी कक्षाओं में भी–सब में इकबाल। तो जो उत्तेजना के बहुत-से कारण थे उसमें से एक यह भी था कि हमारे ऊपर इकबाल क्यों लादे जा रहे हैं? अब आप–मैं इसलिए कह रहा हूँ कि आपके-हमारे देखते-देखते–मैं फिलहाल इस बहस में नहीं जाना चाहता कि इकबाल बड़े कवि हैं कि नजरुल इस्लाम ? लेकिन मैं बता रहा हूँ कि कभी-कभी तो इन चीजों को लेकर जिस प्रकार की उत्तेजनाएँ पैदा होती हैं वह वही अस्मिता अपने समाज को बाँधे रहने की क्षमता ही ये सारे सवाल लेकर खड़ी होती हैं। तो आज अगर हिन्दी का कोई इकबाल है, नजरुल इस्लाम है या रवीन्द्रनाथ ठाकुर है–तो निश्चय ही उसका एक दायित्व यह होगा कि वह इस जिम्मेदारी को भी निभाता रहे कि ऐसा न हो कि बाद में उसी का नाम ले करके तीन टुकड़े इस देश के हो जायँ। और ऐसा नहीं है कि पाकिस्तान और बँगला देश को अलग हुए बहुत दिन हुए और ऐसा भी नहीं है कि हिन्दुस्तान के भी विभिन्न प्रान्तों में अभी भी तनाव न हो। मैं जानबूझ कर 'नेशनल इण्टेग्रेशन' शब्द का इस्तेमाल नहीं करता लेकिन चूँकि मैं जिस चीज की ओर ध्यान आपका दिलाना चाहता हूँ वह साहित्य के और संस्कृति के बहुत गहरे हैं। तो यह विकास भी है, परिवर्तन भी है। लेकिन एक उन्नति है यह हम आप सब जानते हैं।

अब मैं आता हूँ परिवर्तन पर। साहित्य–मैं जानता हूँ कि परिवर्तन का जिक्र करते ही एक बहस खड़ी होगी कि

हरेक के अपने परिणाम हैं और अधिक-से-अधिक आदमी अपने थोड़े-बहुत अनुभव और विचार के साथ जो परिणाम निकाले उसमें बहुत विनम्रतापूर्वक बात कहे और मैं उससे ज्यादा कहने की कोशिश नहीं करूँगा। परिवर्तन हमारी सामाजिक चेतना का एक अंग हैं। यद्यपि ऐसा नहीं है कि विभिन्न समाजों में जो परिवर्तन हैं केवल सामाजिक चेतना के ही हैं। परिवर्तन के हैं, मूलाधार हैं और विचारक हैं। उन्होंने भी यह माना या उन्होंने ही इसकी ओर हमारा ध्यान दिलाया कि मनुष्य के जो प्रकृति से संबंध हैं खास तौर से गहरे संबंध जिसको विज्ञान टेकनोलोजी बहुत है विज्ञान और टेकनोलोजी की जो चेतना है हमारे अन्दर–उसके परिवर्तन के कारण ही समाज में परिवर्तन आता है।

अगर हम कहें कि एक सिद्धांत के अनुसार उत्पादन के साधनों में जब परिवर्तन होता है तो सामाजिक संबंध सामन्तवाद से बदल कर पूँजीवाद में परिवर्तित हो पाता है। तो इस प्रकार हम देखेंगे कि उत्पादन के साधनों को परिवर्तित करने का काम वह अपनी सामाजिक चेतना से करेगा या असामाजिक चेतना से या केवल न्यूटन की तरह एक सेब गिरता देखें और उससे जेम्स वाट की तरह केतली का ढक्कन उछलता देखें और सोच लें कि इससे तो बड़ा भारी इंजन चल सकता है। लेकिन अगर हम यांत्रिकी एक कारण मानें तो वैयक्तिक चेतना के तो परिवर्तन केवल सामाजिक चेतना में नहीं होते। दोनों परिवर्तन केवल सामाजिक चेतना में नहीं होते। दोनों के बड़े गहरे सम्बन्ध बनते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं लेकिन दोनों एक ही चीज नहीं हैं। इसमें–बहरहाल परिवर्तन का एक रूप साहित्य में विशेषकर सामाजिक चेतना के रूप में आता है। वस्तुतः सन् १९५०-६० के आस-पास इन दोनों परिवर्तन की दोनों दिशाओं में इस प्रकार के घालमेल हुए। कैसे दोनों को किस स्तर पर काकटेल बनाया जाय, मिश्रण बनाया जाये

Scanned with CamScanner

इस पर काफी बहसें हुईं जो लोग अधिक वैज्ञानिक चेतना को जोर दे रहे थे या विज्ञान को, वैज्ञानिक तो क्योंकि सामाजिक परिवर्तन वाले भी अपने को वैज्ञानिक कहेंगे। क्योंकि वैज्ञानिक शब्द ऐसा हो गया है कि सभी अपने को वैज्ञानिक कहते हैं तो मैं इस बहस में नहीं जाता हूँ। लेकिन विज्ञान टेकनोलोजी और विद्या इसमें परिवर्तन की क्षमता कितनी है और इसको लपेटकर के जो हमारे विचार में अन्तर आ रहा है। ऐसे कुछ लोग हुए जिन्होंने कहा कि आधुनिकता एक ऐसा शब्द है जो इस सब को लपेट करके हमारी सामाजिक चेतना और विज्ञान के कारण जो हमारे विचारों में नये अन्तर आ रहे हैं यह सब। और इस शब्द से कुछ अस्पष्ट कुछ आधा झिलमिलाता हुआ आधा स्पष्ट और बहस करने के लिए और गोष्ठियाँ चलाने के लिए बाकी मसाला देता हुआ एक शब्द हवा में तैरता है–यह आधुनिकता जो है यह परिवर्तन का जो एक बहुत प्रमुख लोगों को लगा कि आधुनिकता में कुछ यह जो सामाजिक चेतना है उसका अंश २० प्रतिशत है और विज्ञान की चेतना का अस्सी प्रतिशत है। जो उनको लगा कि नहीं उल्टा होना चाहिए इसको २० प्रतिशत होना चाहिए यह अस्सी प्रतिशत होना चाहिए।

अब यह मजाक की बात नहीं है। इसमें बड़े गम्भीरता से विचार वाले व्यक्ति थे। लेकिन मैं अपने ढंग से जैसा मैंने समझा कि कुछ बहसें इन कारणों से भी पैदा होती हैं और यह भी हमारे लिए विचार का एक ढंग है कि जितने प्रकार की शक्तियाँ हैं इस देश के बदलने में और शक्तियों से उन शक्तियों की पहचान से और उन शक्तियों से हमारे अनुभूति जगत् का संबंध।

लेकिन अगर एक प्रयोगवादी की बात हम कहें (हालाँकि प्रयोगवादी वह भी अपने को नहीं कहते) लेकिन जिनको कहा गया है प्रयोगवादी–कि आज के जीवन के दबाव में अभिव्यंजना का मार्ग

आज के साहित्यकार को नहीं दिखता—ऐसा एक प्रमुख लेखक ने कहा। तो जब वे इस भाषा में परिवर्तन को आज के जीवन को और कैसे वह बदल गया है और उसके हिसाब से कैसे बदला जाये—इन सब समस्याओं पर विचार करते-करते उन्होंने अपने दायित्व को प्रश्न के रूप में या एक चैलेन्ज के रूप में एक चुनौती के रूप में किया। कोई जरूरी है कि दायित्व ऐसे ही लेखक स्वीकार करें कि साहित्य में मेरा यह दायित्व है—एक, दो, तीन, चार। तो कभी-कभी तो इन प्रश्नों से लगता है कि जैसे इन चुनौतियों से दिखता है कि इनसे स्पष्ट होता है कि उनकी साहित्य दिशा क्या है? तो मान लीजिए एक व्यक्ति ने कहा कि आज के जीवन का दबाव इतने प्रकार का हो गया है उन दबावों के कारण कैसे हम अपनी बात कहेंगे समझ में नहीं आता। अब सामान्य भाषा में कहें तो यही अभिव्यंजना का मार्ग नहीं देख रहे हैं तो इस वाक्य का अर्थ क्या हुआ आज के दायित्व के सन्दर्भ में? इस वाक्य का अर्थ तो यही हुआ कि जीवन पर ऐसे बहुत-से दबाव पड़ रहे हैं जिन पर हमारा पूरा—हमारी समस्त सामाजिक चेतना जो हम अपने भीतर आत्मसात् किये हैं—उन पर पूरा कण्ट्रोल नहीं है इसलिए हम टेकनोलोजी को या एक प्रकार से इनको भी यांत्रिकी न कह करके समूचे भाव-जगत् और विचार-जगत् में जो उथल-पुथल, जो खलबली मच रही है उसके लिए मान लीजिए। हम एक उदाहरण दें—उन्होंने कहा तो ठीक है। तो हमको कविता की भाषा बदलनी होगी और कविता के यंत्र भी तब जा करके यह कुछ काम की बात हुई कि जैसे तबला बोल रहा है वैसे सितार भी बोले या जैसे सितार बोल रहा है उसी स्वर पर तबला भी। तब जरा जोर बँधे। फिर उन्होंने ऐसा सिद्धान्त बनाया और उसको उन्होंने समझा कि हमारा बहुत बड़ा दायित्व है और इस दायित्व को अगर हमने नहीं पूरा किया तो हम वस्तुतः न केवल कविता के प्रति अपना दायित्व भूल जायेंगे बल्कि एक प्रकार से समूचे युग-बोध

Scanned with CamScanner

के प्रति अपना दायित्व भूल जायेंगे। इसलिए हम भाषा बदल दें छायावादी भाषा नहीं बोलेंगे। हम उपमाएँ नहीं देंगे। हम जो स्वर छंद पहले थोड़ा इस्तेमाल होता था उसको हम कविता का प्रमुख रूप ही बना देंगे, वह अब हमारे लिए अपवाद नहीं रह जायगा। निराला इत्यादि ने तो इसे अपवादस्वरूप माना। बाँधा बाद के पचास-साठ के कवियों ने। वहाँ अब अपवाद नहीं रह गया। अब तो छंद गीत में लिखना वह अपवाद हो जायगा। वस्तुतः संख्या कैसे दी है?

बीस-पच्चीस वर्ष बाद हो सकता है हम इस परिणाम पर पहुँचें कि इस समय जो बहुत-सी चीजें कही जा रही हैं इसमें यह भी लिखना जरूरी है कि इसमें बहुत-सा भ्रम है और बहुत-सा उसमें असत्य। उस समय भी जो साहित्य-चेतना वाले थे अब मुझे स्मरण है इसी दायित्व के सवाल को ले करके कुछ हमारे प्राचीन आचार्य थे तो वे समझते थे कि ये सब तो चौका ही भ्रष्ट किये दे रहे हैं। वस्तुतः न छन्द है, न तुक, न सुन्दर शब्दावली। उस प्रकार की छायावादी प्रकार की एक-दो नयी कविता वाले प्रयोगवाद वाले जागरूक जरूर हैं पर चौका भ्रष्ट किये दे रहे हैं—तो कुछ लोग इस वजह से समझते थे कि गलत हो रहा है। कुछ लोग समझते थे कि कहाँ गरीब आदमी मर रहा है। किसान मजदूर का पसीना टपक रहा है। कहाँ इनको चिन्ता इस बात की पड़ी हुई है कि तुक रखते कि न रखते। ऐसे भी बहस करने वाले मिल जाते हैं कहेंगे कि इसमे तो फार्मलिज्म है रूपवाद है—बहस है कि नहीं? खैर यह तो केवल एक दार्शनिक प्रकार की मुक्ति का परिचायक है। मैं इस बहस में बहुत दूर तक नहीं जाना चाहता लेकिन जितना मैं समझता हूँ मैं केवल रूपवाद नाम का कायल नहीं रहा। यह न है और न कभी होगा। क्योंकि जब हम गहरे विचार करते हैं तो रूप और वस्तु दोनों में वस्तुतः एक स्तर पर जाकर मतभेद दिखायी देता है और अगर

आप वही बात दूसरे ढंग से कहें तो उसका अर्थ दूसरा हो जायेगा और छंद छोड़ कर कहेंगे तो अर्थ दूसरा। इसको गहरे में ले जायँ तो वस्तुतः रूपवाद की यही बहस थी। बहस हो जाती है यही रूपवाद की बहस। अब मैं इस बहस में बहुत दूर तक भी नहीं जाना चाहता। लेकिन इतना जरूर मैं चाहूँगा कि यदि साहित्य के भीतर होने वाले परिवर्तनों को विशेषकर हिन्दी में—अच्छी तरह आत्मसात् करें तो जब पंत जी पल्लव में छायावादी कवि होकर रीतिकालीन कवियों पर आक्रमण करते हैं कि हर की लहर और क्या-क्या अलग भाषा है। पंत जी ने वैसी भाषा फिर कभी लिखी नहीं, जैसी उन्होंने पल्लव की भूमिका में लिखी है। तो यह सब भरा हुआ है उसमें। तो अगर आप ध्यानपूर्वक देखें तो किस पर आक्रमण हो रहा है? रूप ही पर तो आक्रमण कर रहे हैं कि ये सवैया, दोहा और सभी प्रकार के रूप और उसकी जो उपमाएँ ये सब ऐसी हैं कि ये सब निरर्थक हैं। इसको छोड़ दिया जाय। ऊपरी स्तर पर लगता है केवल फार्म की बहस है कि कविता अब घनाक्षरी में लिखी जानी चाहिए। उस घनाक्षरी के जो उपमान हैं उन उपमानों के रखने का ढंग जो है सो है। लेकिन आज बिल्कुल स्पष्ट दिख रहा है कि केवल इन्हीं चीजों की बहस नहीं थी, बहस और गहरे थी। कहना उनको क्या है—बहस इसकी भी थी और उसमें भी बहुत परतें थीं। एक बात मैं बता दूँ कि परिवर्तन इन दोनों चेतना के स्तरों पर है। एक दूसरे को इतना प्रभावित कर देते हैं कि केवल इसी चीज को रूपवाद कह करके हटा नहीं सकते। मेरे विनम्र विचार में ऐसा वही व्यक्ति करेगा जो कहे—कविता ढोल है। टेक्सटाइल के कारखाने में कपड़ा बनता है। एक में सौ बरस पहले की मशीन लगी है और एक में आज के युग की मशीन। और हम कहें यह तो रूपवाद की बहस है असली चीज तो कपड़ा निकालना है। कपड़ा तो दो प्रकार से बनता है। लेकिन टेक्नोलोजी यांत्रिकी क्यों बराबर नहीं होती

Scanned with CamScanner

और जो देश इस टेकनोलोजी में यह कह कर पिछड़ जायेगा या जो सामाजिक चेतना पिछड़ जायेगी कि बिजली पैदा करनी है चाहे हम एक बिजली घर का जो फौवारादार उछाल कर पानी की बिजली बनती है इससे बनावें चाहे नये प्रकार के यंत्रों से बनायें क्या फर्क पड़ता है? बिजली होनी चाहिए। तो फिर उस समाज के अंदर जो गति है जो डायनेमिक्स (Dynamics) है वह गति बहुत ही अधूरी है। इस प्रकार में निवेदन करना चाहता हूँ कि जरूर कुल मिला कर ही हम इसका विश्लेषण भी कर सकते हैं कि वस्तुतः यह मिथ (Myth) यह कांफ्लिक्ट (Conflict) कहाँ मिलता है। और तब यह अन्त में एक चीज और साहित्यिक चेतना के अगर हम वाल्मीकि से आज तक देखें तो चार स्तर एक तो जिसको मैं कहूँ वैश्विक चेतना (Cosmic Consciousness)। यहाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन में अंग्रेजी नहीं बोलनी चाहिए लेकिन अंग्रेजी का अध्यापक होने के नाते खिड़की दिखाई पड़ जाती है तो वैश्विक चेतना एक हमको सम्पूर्णता का एक तत्त्व यह दिखता है—ऐसा नहीं है कि साहित्य इस चेतना के चक्कर में नहीं पड़ा है। अब तक तो ऐसा लगता है कि इस चेतना का सब से ज्यादा किसी पर असर मिलेगा तो वह है साहित्यकार। राजनीति पर सूक्ष्म दार्शनिकों पर भी मिलती है लेकिन जब दार्शनिकों ने लगभग ब्रह्माण्ड व्यापी चेतना पर चर्चा करना बन्द कर दिया इस बीसवीं शताब्दी में—तब यह तो साहित्य का काम है। तब भी जो विटिगिन्स्टाइन के साथ साहित्य में बगल में बैठा हुआ लेखक है वह ब्रह्माण्ड चेतना का शिकार है और इसलिए मैं कह रहा हूँ कि चेतना शब्द मैं केवल चिन्तन नहीं मानता। अनुभूति की समस्त व्याप्ति दिखाई देती है। केवल विचार नहीं—जिसको अंग्रेजी में कहते हैं—या जर्मन में—वेल्टानशाऊंग (Weltanschawung) विश्व दृष्टि। वह सब मैं इस चेतना के जरिये से निकाल सकता हूँ। तो एक तो पूरे ब्रह्माण्ड से समस्त जगत् से हमारे संबंध

हैं। उससे दूसरे स्तर पर एक और चेतना का उद्भव अधिक जागरूक रूप में यूरोप में पन्द्रहवीं शताब्दी के आसपास हुआ। मानवता मात्र को–जिसमें सम्पूर्ण जगत् को हम केन्द्र में न स्थापित करें, मानवता की अवधारणा करें, जिसको बाद में मानवतावाद (Humanism) कहा। इसको मैं एक दूसरा स्तर गिनाये दे रहा हूँ। तीसरा स्तर है जिसको किसी अन्य अच्छे नाम के अभाव में पारिवारिक सम्बन्ध कहूँगा। परिवार–अब मैं वह भी रूप मानता हूँ जब एक रोमांटिक कवि केवल अपनी प्रेयसी के नाम प्रेमगीत लिखता है तो ध्यानपूर्वक देखिए तो केवल यही चाहता है कि तू एक गीत हो जा जिसे गाता रहूँ तो यह कोई झूठा नहीं। यह एक छोटे मूल्य का है चाहे वह स्वरूप एकदम निजी प्रेम के रूप में व्यक्त होता है–ऐसी कहानियों में व्यक्त होता है जैसे प्रसाद की कहानियाँ–ऐसे नाटकों में व्यक्त होता है जैसे मोहन राकेश का नाटक "अंडे के छिलके" जिसमें माँ है, बेटा है, भाभी है, देवरानी है, जेठानी है–बहुत तरह के लोग हैं। उसका एक स्वरूप परिवार है तो निश्चय ही स्त्री-पुरुष का संबंध है–जिस पर साहित्य खड़ा है–जिस पर अभी तक निन्यानबे प्रतिशत कविता–जो कुल मिला कर साहित्य में लिखी जाती है। अगर हम केवल मोटा-मोटा देखेंगे जैसा कि मैं बाद में कहूँ ये चारों स्तर–वस्तुतः ऐसा नहीं होता है कि एक स्तर अगर ध्वनित होता है तो दूसरे स्तर ध्वनित न हों। और चौथा स्तर वह है जो आप सम्पूर्ण जाति या जिसको बोलें अपनी जाति-जाति से अर्थ समाज, राष्ट्र और वह भी हम मनुष्य जाति को ही मनुष्य जाति एक ही मान लें तो जाति (humanism) सामाजिकता–ये दोनों शब्द एक ही के पर्याय हो जायेंगे। लेकिन क्योंकि हम विभिन्न कारणों से समस्त मानवता को एक इकाई कहें और अपनी समाज नामक वस्तु को एक अलग इकाई तो इसलिए मानवता या मानवीयता के बारे में भी चर्चा करते समय इन

Scanned with CamScanner

इकाइयों के भीतर से निकल करके ये जो बोल रहा है। लेकिन कुछ कारण है आखिरकार यह कोई बौद्धिक विपन्नता नहीं है कि इलाहाबाद में बैठ करके हमारी प्रमुख चिन्ता यह है कि हिन्दी साहित्य में क्या लिखा जा रहा है। हो सकता है संसार में बहुत-कुछ लिखा जा रहा है लेकिन प्रथम चिन्ता है कि हिन्दी साहित्य में क्या लिखा जा रहा है और रूस में रहने वाले को प्रथम चिन्ता यह होगी कि रूसी में क्या लिखा जा रहा है--लगे हाथ वह यह भी जानना चाहेगा कि हिन्दी वाले क्या लिख रहे हैं। लेकिन पूरे समाज का दवाव जो है वह इस पर पड़ेगा कि उस भाषा और उस पूरे देश में जिसमें मैं हूँ—मैं रूस में भी हूँ। अगर सत्रह भाषाएँ बोली जाती हैं तो जो कि उस समाज का अंग है उसके लिए यह नितान्त स्वाभाविक है कि वह यही जानना चाहेगा। सबसे पहले यह जानना चाहे कि हमारे उस भाषा अंश में क्या लिखा जा रहा है जिसके हम अंग हैं और उसके प्रति उसकी जो चेतना होगी मैं चाहे जितना भी कहूँ कि शेक्सपियर को महान् मानते हो लेकिन मैं इसी निवेदन के साथ कि यदि हम मान लें सूरदास इतने बड़े कवि नहीं हैं जितने शेक्सपियर। लेकिन सूरदास का गायन पढ़ते समय, उनकी कविता पढ़ते समय बहुत तरह की अनुभूतियाँ मुझे जो जोड़ देती हैं वो शेक्सपियर के साथ कभी नहीं होता। कारण यह है कि मेरे गाँव का कवि मेरा अपना है। अब यह समाज की सीमा-रेखा मेरी क्या है? केवल इलाहाबाद मेरा समाज है, केवल विन्ध्याचल के उत्तर वाला मेरा समाज है, हिन्दी भाषी प्रदेश हमारा समाज है या सारा भारतवर्ष हमारा समाज है या पाकिस्तान भी हमारे समाज में आता है। बँगला देश भी हमारे समाज में आता है। राजनीति, समाजनीति बहुत-सी चीजें इस पर दवाव डाल कर निर्णय करती हैं। इस बहस में कल-परसों आप सुनेंगे। लेकिन ये चार स्तर हैं। अगर हम ध्यानपूर्वक देखें तो इसे हम—

१—सामाजिक चेतना।

२—पारिवारिक चेतना।

३—मानवीय चेतना।

४—ब्रह्माण्ड व्यापी चेतना।

इन चार स्तरों पर एक साथ लेखक का दायित्व बनता है। बेशक कभी कुछ कम, कभी कुछ ज्यादा। कभी कोई चेतना प्रमुख है, कभी कोई चेतना प्रमुख है। इस पर विचार अवश्य होना चाहिए कि क्यों यह चेतना प्रमुख पड़ी है। क्यों यह धुँधली? क्यों होनी चाहिए? इस पर भी विचार करना जरूरी है। लेकिन कोई यदि हमसे यह कहना चाहे कि महान् परिवर्तन करने के लिए भी साहित्य इन चारों में से एक ही चेतना को स्वीकार करेगा। जैसा कि हिन्दी में एक समय में कहा जाता था कि प्रेमगीत या प्रेम कहानी जिसने लिखी, वह तो 'रियक्शनरी' हुआ। जब हमने अपनी अल्पमति के अनुसार जायसी के पद्मावत पर मनन करना शुरू किया तो बहुत-से लोगों को लगा कि कहाँ साही जी, कहाँ अच्छी-अच्छी बातें आधुनिक साहित्य की किया करते थे! कहाँ अब भटक रहे हैं!! लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि जायसी में जितना परिवार या प्रेम का सम्बन्ध आया है, एक ही साथ ब्रह्माण्ड, सामाजिक चेतना, पारिवारिक चेतना और मानवीय चेतना—चारों को ध्वनित किया है। कैसे वह मुरब्बा बनाया? वह उनका मुरब्बा है। हो सकता है कि मैं कविता लिखने चलूं तो वैसा मुरब्बा न बने। लेकिन इतना तो सीखूंगा ही इन आचार्यों से कि देखो कैसा बनाया है। मसाला कौन-कौन-सा डाला है। और देखो हमने एक बनाया नौ रतन की चटनी। तुम नौ रतन की न बनाना चाहो, आठ रतन की बनाओ। लेकिन सीखो तो हमसे कि बनती कैसे है? तो इसलिए मैं कहूँगा कि अगर वे एक ही इसमें से पकड़ लें तो मेरे हिसाब से परिवर्तन की दिशा भी हमारे हाथ से छूट जायेगी। और साहित्यकार शायद

Scanned with CamScanner

वह दायित्व भी पूरा नहीं कर पायेगा। अगर इनमें से एक ही पकड़ेगा-केवल ब्रह्माण्ड चेतना पकड़ेगा तो बाबा लोगों का चेला हो जायेगा। केवल प्रेम वाली पकड़ेगा तो सिनेमा का गीतकार हो जायेगा। अगर केवल समाज चेतना पकड़ेगा तो किसी-न-किसी पार्टी का समर्थक हो जायेगा और उसमें यह क्षमता ही नहीं रह जायेगी कि चारों चेतनाएँ जब एक साथ ध्वनित होती हैं तो मूल्यों में, और समस्त समाज के मूल्यों की लार्ज जो दूरगामी प्रतिफल देने वाली है, मनुष्य के निर्माण में, उनको ध्यान में रखता हुआ आज जो हम कर रहे हैं, इस पर निरन्तर प्रश्न-चिह्न लगता रहे। यह दायित्व लेखक नहीं पूरा कर पाते। जैसा कि रूस के प्रमुख आलोचक ज्दानोव ने एक समय कहा कि "साहित्यकार का दायित्व केवल इतना है कि कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में, रूस में जो महान् निर्माण का कार्य हो रहा है, उसके बगल में खड़ा होकर कहे—बहुत ठीक। बहुत ठीक। बेशक बहुत ठीक—इससे अधिक उसका दायित्व नहीं है।" यह उनके शब्द हैं। यह ज्दानोव ने बेशक कहे, उसका सन्दर्भ भी बता दूं। आई एम सारी यह ज्दानोव नहीं। मैं गलत बोल रहा हूँ। जोजफ रेवाई ज्दानोव को कोट (quote) करते हुए। जोजफ रेवाई हंग्री के कम्युनिस्ट नेता थे और वे आक्रमण कर रहे थे हंग्री के ही एक मार्क्सवादी समीक्षक लूकाच पर। लूकाच ने कुछ दायित्व लेखक का ऐसा दूर तक का बनाया था कि जैसे लेखक की कुछ अतिरिक्त जिम्मेदारियाँ हैं समाज के बारे में, मानवता के बारे में जो वह निभाता है और इससे उसके भीतर बहुत-सी चीजों के बारे में प्रश्न करने का एक सहज अधिकार उसमें पैदा होता है। इसका घोर खण्डन करते हुए कि प्रश्न-चिह्न का अधिकार तुमको नहीं है। व्यवहार नहीं यह सिद्धान्त है। मार्क्सवाद केवल इतना सिखाता है कि कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जो महान् अभियान चल रहा है, उसके बारे में तुम केवल एक बात कह सकते हो—बहुत ठीक। बहुत ठीक।

हो सकता है कि कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में वहाँ जो अभियान चल रहे हों, सचमुच बहुत ठीक हों। लेकिन मैं इस अधिकार का इस्तेमाल करते हुए कि बहुत ठीक है, यही कहूँगा कि मेरे दोनों अधिकार, चाहता तो कहता कि गलत कर रहे हो और चाहता तो कहता कि बहुत ठीक। मैं दोनों को डिजर्व करता हूँ। जब मुझको लगेगा कि ठीक है, तो ठीक कहूँगा। जब मुझको लगेगा कि गलत है तो गलत कहूँगा। यह अधिकार—यह दायित्व—मेरे अन्दर कैसे पैदा होता है, मुझे पता चलेगा। यह केवल एक पार्टी की बात नहीं है। यह चरण सिंह पर भी उसी तरह लागू है, जिस तरह इन्दिरा गांधी पर लागू है। यह केवल ज्योति बसु पर ही लागू नहीं है या यह केवल राजेश्वर राव पर ही नहीं लागू है। राजेश्वर राव की बुद्धि बहुत अच्छी हो लेकिन मैं भी कुछ कम नहीं हूँ। प्रश्न-चिह्न तो लगा ही सकता हूँ। और मैं कम क्यों नहीं? इसलिए नहीं कि मैं अपने को कोई तीस मार खाँ समझता हूँ। मैं कवि हूँ, लेखक हूँ, इसीलिए कि मैं चारों अंतर्ध्वनियों के मुरब्बे को पहचानता हूँ। जब कि तुम परिभाषा से इन चारों अंतर्ध्वनियों के मुरब्बे को जब निगाह से ओझल करोगे, तब केवल एक कदम देखोग। चूँकि मैं ब्रह्माण्ड को भी देख रहा हूँ। मेरे एक वाक्य में, शेली, अगर एक वाक्य भी बोलता है। जैसा शेली कहता है—आप लोगों ने शायद वह कविता जरूर पढ़ी होगी कि—"मैं भी तेरी तरह उन्मुक्त था और जिन्दगी की इस मार ने तेरी ही तरह—वन मोर, टेमलेस एण्ड प्राउड—तेरी तरह के एक टेमलेस और प्राउड व्यक्ति को आज जंजीरों ने बाँध लिया।" ऐसा शेली का वाक्य है न? बहुत ही रोमांचकारी पंक्तियाँ हैं—'वन मोर लाइक दी टेमलेस एण्ड स्विफ़्ट एण्ड प्राउड' अपने बारे में कहता है। और अपनी समता भिड़ाता है उस तूफान से, जो समुद्र से उठा है-उठता है, और आकाश तक फैल गया है। यह कवि अपने सामाजिक बन्धन और उससे उत्पन्न जो तड़प है, उसे ब्रह्माण्डगत

CS Scanned with CamScanner

अनुभव के साथ मिलाता है। ऐसा मिलाता है कि शेली जैसे कवि की कॉसमिक चेतना, कहाँ खतम होती है, सामाजिक चेतना कहाँ शुरू होती है, यह अन्तर पता नहीं चलता। आप में से बहुतेरों ने अगर गोर्की की कहानियाँ पढ़ी हैं तो गाँव का चित्र है और एकदम रात है, सितारे हैं, नदी है, वो मिल जाता है। उसी प्रकार मिल जाता है जिस प्रकार जायसी में जहाँ वे, जब वह (जायसी) समुद्र का वर्णन करता है, तो कहता है-ऐसी लहरें आ रही हैं, जैसे लगता है, समुद्र खड़ा हो रहा है और उस सन्दर्भ में एक नितान्त व्यक्तिगत तड़प रत्नसेन के भीतर कि हाय! पद्मिनी कैसे मिलेगी? लेकिन यह खड़ा होता हुआ समुद्र और भीतर की तड़प-लगता है कि ये दोनों एक ही भावनात्मक अनुभूति के उछाल को बाँधने वाले दो धुरे हैं। इसमें से इसको तोड़ दीजिएगा तो भी वह बात नहीं पैदा होगी, उसको तोड़ दीजिएगा तब भी।

हजार तरीके से जैसे तुलसीदास जी कहते हैं, सूरदास जी कहते हैं-जैसे कृष्ण बैठकर खाना खा रहे हैं, कुछ जूठा गिराते हैं, कुछ बच्चों को खिला रहे हैं, कुछ अपनी माँ को खिला रहे हैं, कुछ गन्दा भी कर रहे हैं। सूरदास जी इसको देखते हैं और अपने भाग्य को सराहते हैं। या सूरदास इसको देखते हैं और जूठा माँगते हैं। एक पंक्ति अन्त में आती है और यह नितान्त निजी छोटा-सा व्यक्तिगत परिवारिक चित्र है। एकदम से कॉस्मिक हो जाता है। वह गति कैसे बनती है? यह साहित्य का बहुत बड़ा दायित्व है। और ऐसा नहीं कि यह दायित्व परिवर्तन के विरुद्ध पड़ता है। यह परिवर्तन को आवश्यक गम्भीरता देता है और समाज के अन्तिम लक्ष्यों के साथ निरन्तर हमारे परिवर्तन की गति को जोड़ता है।

•

उपसंहार

⊙ ⊙

[व्याख्यान पर हुई चर्चा के पश्चात् पुनः श्री साही जी ने जिन विचारों को प्रस्तुत किया था उसे भी अविकल प्रस्तुत किया जा रहा है। ––सम्पादक]

अध्यक्ष महोदय, आयोजकगण देवियो और सज्जनो ! दायित्व के संबंध में अपने दायित्व के लिए क्षमा-याचना करनी है क्योंकि मेरा यह दायित्व था कि सबेरे की गोष्ठी में उपस्थित रहता। कम-से-कम जब आप सब ने धैर्यपूर्वक कल मेरी बातें सुनीं तो मुझे अवश्य ही सभी वक्ताओं की बातें सुननी चाहिए। अपनी सफाई में मैं इतना ही कह सकता हूँ कि संयोगवश इसी समय विश्वविद्यालय में भी एक विचार-गोष्ठी चल रही है कल से ही, और आज दिन भर वह चली––कल भी चलेगी––एक ऐसे विषय पर जो बहुत-से विद्वान् आये हैं जिनके पेपर्स हैं, वक्तव्य हैं जो मेरे लिये बहुत प्रिय विषय है सोशल हिस्ट्री और सोशल हिस्ट्री तो कल आपने हमारी अगर कुछ बातें सुनी होंगी तो आपने इतना अनुमान लगा ही लिया होगा कि मेरे लिये यह कितना निकट का और प्रिय विषय है। सुबह मैं अपने को न रोक सका। इसलिए मैं आपसे क्षमा प्रार्थी हूँ।

शाम को यहाँ आकर मैंने यह प्रयास किया कि सबेरे की गोष्ठियों में जो कुछ कहा गया उसे जान लूँ लेकिन थोड़ा ही सुन पाया फिर

CS Scanned with CamScanner

गोष्ठी शुरू हो गयी इसलिए मुझे यहाँ आकर बैठना पड़ा। लक्ष्मीकान्त जी ने अपने वक्तव्य के अन्त में एक यह प्रश्न उठाया कि मैंने दायित्व के विचार के लिए संदर्भ तो सब परिभाषित कर दिये या उनकी ओर जो मेरी दृष्टि है वह बताया लेकिन दायित्व की गणनाएँ या दायित्वों की सूची नहीं बनायी। जितना अंश मैंने सबेरे की गोष्ठी का सुना-उसमें कुछ शायद ऐसा कहा गया था कि मैं अपने वक्तव्य में दायित्व की गणना से बराबर कतराता रहा। यह बात एक अर्थ में सही भी है एक अर्थ में गलत भी। सही इस अर्थ में है कि मैंने दायित्व की सूची नहीं प्रस्तुत की या दायित्वों की सूची नहीं प्रस्तुत की। गलत इस अर्थ में है कि वस्तुतः यदि हम विचार-विमर्श को किसी सैद्धान्तिक स्तर पर बनाये रखना चाहते हैं तो सूची तो अन्ततः उन सिद्धान्तों से निकलती है और कुछ थोड़ा मैंने यह संकेत भी दिया। एक उदाहरण मैं आपको दूँ। मैंने कल की बातचीत में एक प्रश्न आपके सामने रखा कि साहित्य का एक दायित्व है 'समाज को एकाग्रता प्रदान करना'। मैं समझता हूँ कि यह सूची गिनाने के लिए तो मैंने कहा ही ! मैंने यह भी कहा कि इस एकाग्रता—या 'लोक-संग्रह' का यदि आप चाहें तो नाम दे दें––लोकों को संग्रह करने का काम––इसमें और परिवर्तन विशेषतः तेजी से परिवर्तन 'लोक परिवर्तन' या लोगों के भीतर बदलाव ये मूल्य बिल्कुल वही नहीं हैं जो समाज को एकाग्र करने वाले हों और कभी-कभी इन दोनों में तनाव पैदा होता है। मैंने यह भी कहा था कि किन्हीं परिस्थितियों में लोगों को एकाग्र या एकचित्त करने का मूल्य यह यथास्थिति का पोषक हो जाता है। अपनी तरफ से तो मैंने सब कुछ कहा। लेकिन मैंने यह भी संकेत दिया कि जब इस तरह के चुनाव हमको करने हों, तो जहाँ हम साहित्य की धारा को, या साहित्य के प्रति हमारे दृष्टिकोण को, या साहित्य के दायित्व को समझने का प्रयास करें वहाँ कुछ यह भी देखें

कि जिस भी वातावरण में हम रह रहे हैं उस वातावरण में किन मूल्यों का—मैंने कहा था 'मुरब्बा' किस तरह बनता है, अर्थात् ये मूल्य परस्पर संतुलित कैसे होते हैं। यह सही है कि संतुलन की मैंने कोई अलग से थियरी नहीं दी। वह इसलिए कि वह समाजशास्त्र का बहुत एक अलग विषय है और यों ही मैं बहुत कुछ बोल रहा था और मान कर चल रहा था कि केवल साहित्य तक ही अपने को सीमित रखूँगा। समाजशास्त्र और इतिहास के संबंध में जो बहुत-से विवाद हैं या बहुत-सी जो खोज हो रही हैं आज दुनिया में—उसकी और कभी बातचीत होगी किसी और गोष्ठी में। लेकिन अगर हम यह मान लें कि किसी भी प्रकार का संतुलन है जो विभिन्न मूल्यों में से निकलता है तो भी हर हालत में हमारे लिये यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि आज वह मुरब्बा या संतुलन कैसे बनता है। मैंने यह भी कहा था कि मेरी दृष्टि में हिन्दुस्तान में आज लोक-संग्रह का कार्य बीत नहीं चुका है। लोगों को एकाग्र रखने का कार्य बीत नहीं चुका है वह आज भी हमारे सामने समस्या के रूप में खड़ा है। मैं इस पर बहुत नहीं कहूँगा। इस पर अलग से बहस हो सकती है क्योंकि मैंने जितना अंश सुबह का सुना, उसमें कुछ ऐसा भी कहा गया कि एक राष्ट्रीय चेतना का युग था, अब उसका जमाना गुजर गया। अब एक सामाजिक चेतना का युग है। लेकिन मुझे प्रसन्नता होती कि राष्ट्रीय चेतना क्यों सामाजिक नहीं है-इसका भी लोग विवेचन थोड़ा करते। तब समझ में आता कि किस अर्थ में वह राष्ट्रीय चेतना को सामाजिक या सामाजिक नहीं मान रहे हैं या और समाज ही से अतिरिक्त कोई चीज मान रहे हैं, या समाज का ही कोई विशेष रूप मान रहे हैं। तब भी वह विशेष रूप क्या ऐसा है कि उसको सामाजिक चेतना न कहा जाय। और उसके लिए अलग नाम दिया जाय? बहरहाल हो सकता है—इस पर अलग विवेचन हो लेकिन अगर हम उसको—मैंने तब भी यह कहा था कि मैं उसे राष्ट्रीयता

या 'नेशनल इण्टग्रेशन' इन शब्दों से अभिहित नहीं करना चाहता हूँ—लोक संग्रह ही कहा है। क्योंकि 'नेशनल इण्टग्रेशन' कह देने से बहुत सारे सवाल खड़े हो जाते हैं। मैं आपको एक बहुत छोटा-सा सवाल दूँ। जिस समय भारतेन्दु अपना साहित्य रच रहे थे उसी समय लगभग बगल में ही मौलाना हाली अपना मुसद्दस समझा रहे थे और उसी के आस-पास उर्दू के एक उपन्यासकार हुए डिप्टी नजीर अहमद। उन्होंने अपना 'तौबतुन नुसूह' नाम का उपन्यास लिखा जो लगभग उसी समय का है जिस समय का श्री निवासदास का 'परीक्षा गुरु'। मैं इतना कल विस्तार में नहीं जाना चाहता था लेकिन जब हम किसी युग को परिभाषित करेंगे—उसकी चेतना या चेतनाओं या चेतना के विभिन्न पहलुओं को परिभाषित करेंगे तो केवल इतना कह देने से कि मौलाना हाली भी राष्ट्रीयता का उन्मेष देख रहे थे और भारतेन्दु भी राष्ट्रीयता का उन्मेष देख रहे थे—काम नहीं चलेगा। एक प्रकार की सामान्य प्रश्नावली का उत्तर हम दे दें लेकिन जितने प्रकार के प्रश्न-प्रति-प्रश्न वस्तुतः एक शोधकर्त्ता के मन में उठने चाहिए, सब का सामान्य समाधान इतने से हम नहीं कर सकेंगे। वह हर हालत में इतना ही कह देने से कि यह राष्ट्रीय चेतना है, सामाजिक चेतना नहीं है या यह सामाजिक चेतना है तो किस प्रकार की है, इसकी भी हम तलाश न करें या वह कैसे उपजती है क्यों, इसकी शक्ल ऐसी बनती है-यह सवाल बहुत गहरे हैं।

मैं अपने मित्रों के सामने एक और बहुत छोटा-सा दूसरा प्रश्न रखता हूँ जिसके ऊपर मैंने बहुत मन्थन किया है, विचार किया है यद्यपि लिखा नहीं है—और शायद कभी लिखूँ। उदाहरण के लिए—हिन्दुस्तान का जब बँटवारा हुआ तो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों में हिन्दी, उर्दू, पंजाबी सभी भाषाओं में बहुत-सी कहानियाँ और उपन्यास बँटवारे को लेकर लिखे गये। शायद आप में से जिन्होंने पढ़ा होगा—सआदत हसन मण्टो की कहानियाँ बड़ी ही प्रभावशाली हैं। लेकिन उन्होंने

Scanned with CamScanner

ही नहीं रामानन्द सागर ने, ख्वाजा अहमद अब्बास ने बहुतों ने ही और कभी-कभी उन कहानियों और उपन्यासों को पढ़ते समय एक बहुत बड़ा प्रश्न मेरे दिमाग में उठता है जिसकी गहराई तक मैं अभी नहीं जा सका हूँ। आप लोगों के समक्ष उसे रखता हूँ कि चेतना का प्रश्न राष्ट्रीय, सामाजिक, राजनीतिक—यह सब कहाँ खड़ा होता है। तो उन कहानियों को पढ़ते समय मुझे लगा कि इन कहानियों में समस्त लेखक केवल एक चीज देख रहे हैं कि पार्टीशन के बाद जो-जो नृशंसताएँ और हत्याएँ हुई उन सब का जिम्मेदार मुहल्ले का गुण्डा है चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। यह बिल्कुल उसकी निगाह में नहीं आता कि इस विभाजन के लिए जिम्मेदार गुण्डे नहीं थे कुछ और लोग ही थे। और वो शक्तियाँ—ये लोग जो सामाजिक यथार्थ पर लिख रहे हैं धीरे-धीरे उनकी यथार्थ की सीमा इतनी छोटी हो गयी कि कुल इतना दिख रहा है कि मुहल्ले का गुण्डा ही हमारे साहित्य का पूरा विषय है। मैं किसी को दोष नहीं दे रहा हूँ क्योंकि जब एक वैज्ञानिक दृष्टि से देख रहा हूँ इतिहास को—तो मैं खोज करना चाहता हूँ कि यह स्थिति क्यों है? या यह फाँक क्यों पैदा होती है? और इस फाँक के पैदा होने से साहित्य के दायित्व में कुछ कमी आती है या नहीं आती है। मैं आपके सामने यह प्रश्न रखना चाहता हूँ। शायद यह प्रश्न मुझे आपसे उतना नहीं करना चाहिए जितना हमें अपने साथी जैसे लोगों से करना चाहिए जिनका काम है साहित्य को लेकर विवेचन करना या दार्शनिक-सामाजिक सवाल उठाना और उसका हल निकालना। यह मैंने आपके सामने एक उदाहरण दिया।

यह ऐसा नहीं है कि इन लेखकों ने या भारतेन्दु ने अपना सामाजिक दायित्व जैसा भी वे समझते थे नहीं लिखा। एक ने बहुत ईमानदारी की और 'सीधी' बात कही कि मैं तो सब जानता नहीं मैं तो कुछ अपने पेट की और कुछ जो मेरे आस-पास जो लोग हैं उनके पेट की बात सोच

Scanned with CamScanner

इस प्रकार परिभाषित कर दिया जैसे कि मैंने कल कहा था कि रीतिकालीन कवि ने अपना दायित्व परिभाषित कर दिया कि 'आगे के सुकवि जो पै मानिहैं तौ कविताई न तु राधिको कन्हाई सुमिरन को बहानो है'। इसमें बहुत दार्शनिक बहस की गुन्जाइश नहीं है—इतनी बहस करके मैं सही ही कह रहा हूँ। और निश्चय ही जब मैं कुछ बोल रहा हूँ तो बहुत चिन्ता करके बोल रहा हूँ कि मैं सही बात कहूँ, गलत बात न कहूँ—लेकिन जब कोई दूसरा ईमानदारी से कुछ कह रहा है—तो अगर वह माओ-त्से-तुंग है, तो अगर वह कुछ कह रहा है तो उसको भी मेरे इतनी बुद्धि है—कोई मुझसे कम नहीं है। लेकिन जब मैं कहूँगा कि तुम हो बढ़ई और बढ़ई कितना भी ईमानदार हो जाय एक अच्छी मेज ही तो बना सकता है और कुछ नहीं कर सकता। उसी प्रकार से तुम जिन सम्बन्धों को ले करके अपने कार्य की पद्धति चला रहे हो उन सम्बन्धों में सक्षम, पटु और ईमानदार होते हुए भी मनुष्य की मूल्यवत्ता के कुछ ऐसे स्तर हैं जो तुम्हारी पकड़ के हमेशा बाहर निकल जाते हैं और चूँकि वे स्तर ऐसे नहीं हैं कि आज इसको पूरा कर लें, कल देखा जायेगा। मैं इस विचार से बिल्कुल सहमत नहीं हूँ कि आज हम रोटी की समस्या हल कर लें। मनुष्य का मन कैसा बनेगा—इसे इसके बाद देखिए। ऐसे विचारक हुए हैं जिन्होंने कहा जैसा रोटी वैसा मन। इसलिए रोटी को अगर बदल दो तो मन अपने-आप बदल जायेगा। ऐसे हिन्दुस्तान में भी विचारक हुए हैं जिन्होंने कहा है कि जैसा मन वैसी रोटी। मनुष्य का मन बदल दो रोटी अपने-आप वैसी लगने लगेगी। क्या आधा पेट खाया, क्या पूरा पेट—कोई फरक नहीं दिखायी पड़ेगा। मैं यह समझता हूँ कि शायद इतिहास मुझे ऐसा लगता है इसकी गवाही नहीं देगा कि आदमी के चारों तरफ का वातावरण बदल दीजिए तो उसका मन बदल जायेगा। मैं समझता हूँ मन उसका साथ-साथ बदलता है वह को-वैरिएशन है कैजुअल वैरिएशन नहीं—एक प्रकार का

सह-संचरण है—कार्य-कारण संचारण नहीं। अगर हम यह मानते हैं—या जैसा मैं समझता हूँ, तब उस दशा में यह तात्त्विक प्रश्न कि हम चूँकि मनुष्य के झंकृत होने वाले कई मूल्य-स्तरों को और आगे तक देखते हैं इसीलिए हमें प्रश्न करने का अधिकार मिलता है और इसीलिए कभी-कभी ऐसा लगता है कि राजनीतिक व्यक्ति केवल छोटे 'गोल' रखता है या उन्हीं समस्याओं को उठाता है जिन्हें वह हल कर सकें। और बाकी जो समस्याएँ उसके हल करने योग्य नहीं हैं उनकी ओर राजनीतिक व्यक्ति कहता है कि विचार करना बेकार है। अगर मैं यह कहूँ कि मेरी मूल समस्या यह है कि मैं जिस लड़की को प्यार करता हूँ वह मुझसे नफ़रत करती है और कहूँ इन्दिरा जी से कि इसको अपने 'ट्वण्टी प्वाइण्ट' प्रोग्राम में कृपा करके इसका भी हल निकाल लीजिए तो मुझे इससे बड़ा दुःख है। या मैं ज्योति बसु से कहूँ या नम्बूदरीपाद से कहूँ तो कहेंगे कि इस मूर्खता का भी कोई जवाब है? यह तो राज के हल करने की चीज ही नहीं है। और यह कोई महत्त्व की बात ही नहीं है जिसे शासन के द्वारा हल किया जाय। लेकिन मैं जिस स्तर पर खड़ा हूँ उस स्तर पर जिसको मैं प्यार करता हूँ, वह मुझको उलट कर प्यार करती है कि नहीं या नफरत करती है। यह कहीं जा करके पूरे व्यासमास (कासमस) तक—पूरे ब्रह्माण्ड तक ध्वनित हो जाता है और मुझे यह महत्त्वपूर्ण लगने लगता है कि पद्मावती रत्नसेन को तो चाहती है—अलाउद्दीन के साथ जाने को तैयार नहीं है। और इससे न जाने क्या-क्या तूमार खड़े हो जाते हैं। तो बेशक जब मैं वहाँ से खड़ा होऊँगा तब जरूर मुझे लगेगा कि आप उन्हीं समस्याओं को लेंगे ही जिनका आप तत्काल हल निकाल सकें। लेकिन हम जिस समस्या को ले रहे हैं वहाँ से ये समस्याएँ भी अनुगुंजरित होती हैं। हम बाँट नहीं रहे हैं परन्तु दायित्व को हम केवल उतनी दूर तक सीमित नहीं करेंगे। अब इसके बाद भी अगर दायित्व निकले तो कैसे निकलेगा?

• •

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 97729
Date 10/7/2000

Scanned with CamScanner